सृजन चेतना तथा लेखकीय संघर्ष का त्रैमासिक

15 रुपये

विशिष्ट लेखक : कृष्णा सोबती, मेरी कथा यात्रा, कालजयी उपन्यास दिलोदानिश के अंश
चौखटों को तोड़ने की आकुलता– अजय तिवारी, कृष्णा सोबती के साहित्य का आकलन
आलेख : मधुरेश, कांतिकुमार जैन, हरिपाल त्यागी, चमनलाल, शशिभूषण द्विवेदी, अनुराग
नये लेखकों के लिए : विभूतिभूषण बंधोपाध्याय, रसूल हमजातोव, जयनंदन, विवेक त्यागी

भारतीय लेखक

सृजन-चेतना तथा लेखकीय संघर्ष का त्रैमासिक
जुलाई-सितंबर 2003 वर्ष : 1 अंक : 4

संपादक
भीमसेन त्यागी
सहायक संपादक : *अनुराग*
सौजन्य सहयोग : *शशिभूषण द्विवेदी*
कला संपादक : *हरिपाल त्यागी*
प्रबंध संपादक : *विवेक*

दशा-दिशा

आलेख

महापुरुष

विशिष्ट लेखक

भारतीय साहित्य/मराठी

नये लेखकों के लिए

समीक्षा

मूल्य एक प्रति : 15 रुपये, वार्षिक : 60 रुपये
संस्थाओं तथा पुस्तकालयों से वार्षिक : 100 रुपये
विदेशों में वार्षिक : 15 डॉलर
मनीआर्डर, बैंक ड्राफ्ट 'भारतीय लेखक' के नाम ही भेजिये
भारतीय लेखक
डी-180, सेक्टर 10, नोएडा-201301, फोन : 0120-2540678
प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी एवं संपादक भीमसेन त्यागी द्वारा रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा दिल्ली-32 में मुद्रित तथा डी-180, सेक्टर-10, नोएडा-201301 से प्रकाशित।

मत-मतांतर

आपने बहुत बढ़िया अंक निकाला है। संपादकीय में उठाये सवालों पर आपको लगातार बहस चलानी चाहिए। क्या लेखक होने मात्र से एकता करना उचित है? परस्पर विरोधी विचारों की एकता का क्या आधार होगा? अपना हित? वामपंथी संगठनों की एकता, क्या राजनीतिक संगठनों की एकता के बिना संभव है? ऐसे ही प्रश्न हैं, जिन पर रचनात्मक बहस होनी चाहिए। आप इसे आगे बढ़ायें।

-कर्मेंदु शिशिर, पटना

◆

'दशा-दिशा' में साझा लेखक संगठन बनाने की अपील समय की मांग है। ऐसा प्रयास आज के मनुष्य-विरोधी माहौल में बेहद जरूरी है।

'विशिष्ट लेखक' में मैत्रेयी पुष्पा पर सामग्री रोचक और पठनीय है- खासकर राजेंद्र यादव का संस्मरण। जगदंबाप्रसाद दीक्षित के प्रकाश्य उपन्यास का अंश जिज्ञासा जगाता है।

-शोभनाथ यादव, मुंबई

◆

साझा लेखक संगठन बनाने की बात ठीक समय पर कही है। इसकी आवश्यकता सभी शिद्दत के साथ महसूस करने लगे हैं। दिल्ली में इस बार 10 जुलाई को प्रेमचंद जयंती के अवसर पर तीनों संगठनों के लेखक एक मंच पर उत्साहित दिख रहे थे।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप एक अंक यशपाल पर केंद्रित कर रहे हैं।

- रामनिहाल गुंजन, आरा

◆

लेखकों की एकता और संगठनात्मक भावना की आज बहुत जरूरत है। आपने समय की नब्ज को पहचाना और साहसी कदम उठाया। 'कुछ जरूरी सुझाव' बहुत अच्छे हैं। अंक की सामग्री बहुत ही उपयोगी और उच्च स्तर की है।

-मधुप शर्मा, मुंबई

◆

'दशा-दिशा' में प्रस्तुत आपके सुझावों को हिंदी साहित्य समाज अमल में ला पाएगा, इसमें मुझे संदेह है। 'महापुरुष' वाद-विवाद में रहेगा।

- दिनेशचंद्र प्रसाद, पटना

◆

पूरी सामग्री गंभीर, महत्वपूर्ण व सार्थक लगी। संपादकीय-तीनों लेखक संगठनों की बजाए एक साझा संगठन बनाने के सुझाव से मैं पूरी तरह सहमत हूं।

यशपाल पर मधुरेश के संपादन में विशेषांक की योजना सराहनीय और स्वागत योग्य है।

-डा. चमनलाल, पटियाला

◆

'भारतीय लेखक' निर्भीक और सत्य का पक्षधर है। शीला संधू के बारे में जिस सत्य का उद्घाटन है, उसी तरह के अनेक सत्य मैंने अपनी संस्मरण पुस्तक 'दुखवा मैं कासो कहूं' में प्रकट किए हैं। मैत्रेयी पुष्पा पर बहुत अच्छी सामग्री है। प्रगतिशील लेखकों की व्यापक एकता के लिए कुछ जरूरी सुझाव का समर्थक हूं। मैं ऐसे संगठन से जुड़ना चाहूंगा।

-विश्वप्रकाश दीक्षित बटुक, साहिबाबाद

◆

हरिपाल त्यागी का लेख 'तीसरा सवार' बहुत गंभीर, चुटीला और लाजवाब है। संपादकीय में लेखक संगठनों की एकता की बात महत्वपूर्ण है। मगर केवल वामपंथी आग्रह ही क्यों? क्या विश्व में- स्टीफन ज्विग, रिल्के, फॉकनर, रोमा रोलां जैसे स्वतंत्र और निष्पक्ष लेखक नहीं हुए हैं?

-ओमा शर्मा, मुंबई

'भारतीय लेखक' की पूरी सामग्री पठनीय है, पर 'महापुरुष' सबसे बढ़िया है।

-हसन जमाल, जोधपुर

◆

सारी सामग्री स्तरीय है। कुंवरपाल सिंह का लेख और हरिपाल त्यागी का व्यंग्य विशेष पठनीय लगे। त्यागी जी की व्यंग्य क्षमता चकित कर देती है।

-जगदंबाप्रसाद दीक्षित, मुंबई

◆

भारतीय लेखक में वह सब नहीं है, जो हर पत्रिका में होता है। जो सामग्री आ जाये, उसी को भर दो। हरिपाल त्यागी तो 'महापुरुष' लेखक हैं।

-प्रेमपाल शर्मा, दिल्ली

◆

हरिपाल त्यागी जितने बड़े चित्रकार हैं, उससे बड़े साहित्यकार हैं। गजब तो यह कि सरल भी हैं। कितना कठिन है सरल होना।

-हरपाल सिंह 'अरुष', मुजफ्फरनगर

◆

तीसरा सवार में हरिपाल त्यागी का विश्लेषण बहुत अच्छा है। मैं उनकी कलम का पहले भी प्रशंसक था, अब और हो गया हूं। भीतर तक देखने और भेदने वाली उनकी दृष्टि और तस्वीर की हर रंगत को पकड़ने-पहचानने की उनकी क्षमता इस पूरे आलेख में है। इसे पढ़ते हुए याद आयी दिल्ली के कनॉट प्लेस की एक शाम। बृजमोहन की दुकान पर साथियों के बीच रहबर जी ने मुझसे कहा था- जानते हो प्रेमचंद का उत्तराधिकारी कौन है? उत्तर भी उन्होंने ही दिया था- मैं! फिर पूछा- और जानते हो मेरा उत्तराधिकारी कौन है? स्वयं उन्होंने ही उत्तर दिया- मेरा उत्तराधिकारी है- ब्रजमोहन! रहबर साहब का उन दिनों आठवां जन्म हुआ था।

-सुधीर विद्यार्थी, बीसलपुर

विशिष्ट लेखक में मैत्रेयी पुष्पा पर विशेष सामग्री पाठकों को मुग्ध करती है। खासकर कृष्ण बिहारी पांडेय का लेख मैत्रेयी की रचना-दृष्टि को समझने में मदद करता है।

जगदंबाप्रसाद दीक्षित की 'खोई हुई सदी' समय और व्यक्ति के भटकाव को व्यक्त करती है। 'साहित्य ने राह दिखाई' एक उदाहरण है, जो साहित्य वैचारिका प्रकट करता है।

-उत्तिमा केशरी, पूर्णिया

◆

मैत्रेयी पुष्पा पर विशिष्ट सामग्री और 'महापुरुष' वेग से झकझोरते हैं।

-पवन कुमार सिंह, इलाहाबाद

◆

'हंस' के बाद साहित्यिक पत्रिकाओं में 'भारतीय लेखक' महत्वपूर्ण है, विशिष्ट लेखक के अंतर्गत मैत्रेयी पुष्पा की कहानी 'राय प्रवीण' प्रभावित करती है। पुष्पा जी अपने लेखन में बिंदासपन को लेकर चर्चित हैं।

-शराफत अली खान, शाहजहांपुर

◆

कुंवरपाल सिंह, हरिपाल त्यागी और मोहन गुप्त के लेख बहुत महत्वपूर्ण हैं।

-संजय कृष्ण, गाजीपुर

◆

मोहन गुप्त का लेख 'सच तो आखिर सच है...' अद्भुत है। सुधीर शर्मा पर अनुराग का लेख 'साहित्य ने राह दिखायी' अच्छा है। सुधीर से मेरा कल तक का संपर्क है और मैं उसे आत्मकथा लिखने के लिए तैयार कर रहा हूं।

-ज्ञानरंजन, जबलपुर

◆

'सच तो आखिर सच है...' से प्रकट है व्यक्तिगत स्वार्थ और अहं की वेदी पर लोकहित कैसे बलिदान हुआ। लेखक निर्भीक और साहसी है। विश्वनाथ त्रिपाठी का आलेख प्रभावित करता है। दशा-दिशा से सहमत हूं।

-दीपककुमार अज्ञात, पूर्णिया

◆

पत्रिका अपनी सादगी, सरलता और सच्चाई में अनोखा आकर्षण छिपाए हुए है।

-चितरंजन भारती, हैलाकांदी

◆

संपादकीय महत्व का है। सुझाव भी प्रासंगिक हैं। हरिपाल त्यागी, विश्वनाथ त्रिपाठी, मोहन गुप्त, मंटो और मैत्रेयी पुष्पा के आलेख प्रभावपूर्ण हैं।

-शैलेंद्रकुमार त्रिपाठी, शान्तिनिकेतन

◆

सृजन चेतना तथा लेखकीय संघर्ष पर सारगर्भित अंक है। आज के युग में ऐसी पत्रिका निकालना निश्चित ही साहस का कार्य है।

-डा. सुकीर्ति गुप्ता, कोलकाता

◆

प्रवेशांक में शेखर जोशी पर जो सामग्री प्रकाशित की गई थी, वह महत्वपूर्ण है। उन पर अब तक इतनी सामग्री एक साथ उपलब्ध नहीं थी।

-डा. राजेंद्र गौतम, नई दिल्ली

◆

'भारतीय लेखक' ने जिस निष्ठा के साथ पहलकदमी की है, वह प्रशंसनीय है। ढेरों पत्रिकाओं के बीच एक पत्रिका की जरूरत क्यों महसूस हुई, यह प्रवेशांक के संपादकीय से स्पष्ट है। आशा है पत्रिका अपने आगामी अंकों में दंगों के लिए जमीन तैयार करने वालों को चुपचाप नहीं देखेगी और समाज में व्याप्त संवेदनहीनता की स्थिति से पाठकों को उबारेगी।

-डा. दीपा त्यागी, लखनऊ

◆

'भारतीय लेखक' एक अलग तरह की पत्रिका है। अलग मिजाज तथा स्वाद की पत्रिका। मैं एक सेवामुक्त व्यक्ति हूं। अपनी कोई दुकान या स्टॉल नहीं है। यूं ही बस साहित्य का हरकारा बनकर पत्रिकाएं बांटते चलता हूं-पैदल घूम-घूमकर। उम्र बढ़ रही है और देह थक रही है। आयी पत्रिकाओं का लोड पहले ही बहुत अधिक है। आगे बढ़ाने की स्थिति में बिल्कुल न था। मगर 'भारतीय लेखक' ने विवश कर दिया।

-देवेंद्र सिंह, भागलपुर

प्रवेशांक में वसुधा-51 'रामविलास शर्मा अंक' की समीक्षा पढ़नी शुरू की तो डूबता चला गया। उसके तमाम संदर्भ और उनके माकूल उत्तर आंखों में तैर गये। अनुराग का अरविंद कुमार के थिसारस पर लेख 'समांतर कोश...' पढ़ा। यह भारतीय भाषाओं में पहला थिसारस नहीं है। इससे पहले बंगला में कई थिसारस निकल चुके हैं। अशोक मुखोपाध्याय के बांग्ला थिसारस का पहला संस्करण 1987 में निकला था।

-डा. रामशंकर द्विवेदी, उरई

◆

भारतीय लेखक के अवलोकन के बाद इसे प्रकाशित करने का औचित्य समझ में आ जाता है। कुछ लेख बहुत अच्छे हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी का आलेख स्फूर्तिदायक है। यह सुखद घोषणा है कि यशपाल पर विशेषांक प्रकाशित कर रहे हैं।

-राजेंद्र चोपड़ा, फरीदाबाद

◆

'भारतीय लेखक' अकेली पत्रिका है, जो लेखकीय समस्याओं पर केन्द्रित है। विश्वनाथ त्रिपाठी के बारे में कुछ नई जानकारियां उनके संस्मरण से मिली हैं।

-कुमार अनुपम, बलरामपुर

◆

भारतीय लेखक के माध्यम से आपने हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता को नयी जमीन दी है। यह जमीन लेखक एवं पाठक के मध्य रिश्ता बनाने की सार्थक पहल है।

-दीपकप्रकाश त्यागी, गोरखपुर

◆

शीर्षक और उनकी साज-सज्जा देखकर सुखद अनुभति से भर उठा। केवल तीसरा अंक और इतना उम्दा! नये लेखकों के लिए वरदान, पुराने लेखकों के लिए संवाद-सेतु।

-रामविलास जांगिड़, अजमेर

◆

इन दिनों लेखकों/बुद्धिजीवियों के संस्मरणात्मक होने से मुझे साहित्य के बुढ़ापे का संदेह होने लगा है। संस्मरणात्मक आलेखों की बजाए वैचारिक आलेखों को स्थान दें तो

शायद युवा चेतना अपने को आपकी पत्रिका के साथ महसूस करेगी। संस्मरण का प्रकाशन व्यक्ति पूजा का ही एक रूप है।

-रवीन्द्र कुमार दास, नई दिल्ली

◆

भारतीय लेखक लेखकीय आभा मंडलों में साहसपूर्वक हस्तक्षेप कर रहा है, जो समय की मांग है।

-कुन्तल कुमार जैन, मुंबई

◆

दोनों अंक विचारोत्तेजक और संग्रहणीय सामग्री से ओत-प्रोत लगे। मैक्सिम गोर्की, मोहन गुप्त, वेद प्रकाश, मैत्रेयी पुष्पा के लेख और संपादकीय पठनीय हैं। वास्तव में यह बड़ी अच्छी शुरूआत की है।

-डा. कृष्णचन्द्र गुप्त, मुजफ्फरनगर

◆

भारतीय लेखक ने आंखों की नींद ही छीन ली वरना क्या वजह थी कि रात 1.50 पर आपको यह पत्र लिख रहा हूं। पिछले अंक से ही यह महसूस कर रहा था कि यह पाठकों की जरूरी पत्रिका बनेगी। अप्रैल-जून अंक आया तो यह विचार और पुख्ता हुआ।

संपादकीय में वक्त की नजाकत को देखते हुए नेक सलाह दी गयी है। 26 जुलाई को प्रेमचंद पर जो सेमिनार हुआ, वह साझा आयोजन का ही प्रतिफलन था। विश्वनाथ त्रिपाठी का संस्मरण, मधुरेश का 'यशपाल : विप्लव की भूमिका और प्रकृति', कुंवरपाल सिंह का सहचिंतन और मोहन गुप्त का प्रकाशन जगत पर आलेख पठनीय है। मैत्रेयी पुष्पा का आत्मावलोकन 'समय मेरे संदर्भ में' प्रभावशाली है। राजेंद्र यादव ने जो कुछ लिखा, उसमें काफी संकोच भाव है। मैत्रेयी पुष्पा जितनी विनम्र और संकोची प्रकृति की हैं, उतनी ही सचेत और विस्फोटक भावनाओं की लेखिका हैं। उनको शिवानी और मन्नू भंडारी के समकक्ष खड़ा करना अच्छा नहीं लगता। लेखन में उनकी अपनी मुकम्मल जगह है।

महापुरुष का तो जवाब नहीं। चित्रकार और कथाकार हरिपाल त्यागी ने व्यंग्य परंपरा का एक नया विजन रचा है।

भारतीय लेखक ने नये लेखकों का ख्याल रखा है। 'अच्छी हिंदी' किसी भी लेखक के लिए उपयोगी स्तंभ है। भाषा पर जुल्म ढाने वालों के लिए एक सबक।

-हीरालाल नागर, सादतपुर, दिल्ली

◆

अंक देखकर अभिभूत हूं। बहुत अच्छी और सोद्देश्य पत्रिका निकाली है। हरिपाल त्यागी का व्यंग्य नश्तर से भी तीखा है।

लेखक संगठन का विचार अच्छा है और मैं उससे सहमत हूं। संस्कृतिकर्मियों के एकजुट होकर विचार करने की अनिवार्यता स्पष्ट होती जा रही है।

-मनमोहन सरल, मुंबई

◆

अनुराग का लेख 'साहित्य ने राह दिखायी...' सुलिखित रचना है। सुधीर शर्मा के गोवा जेल में रहते हुए, पत्रों के माध्यम से मेरा उससे परिचय हुआ। यह परिचय धीरे-धीरे बहुत सघन हो गया। मैंने बहुत सी किताबें उसे भेजीं। अब वह विभूति नारायण राय के गांव में उनके पुस्तकालय में काम कर रहा है। अभी तक अपने मां-बाप से नहीं मिला। बड़ी अजीब कहानी है उसकी- 'एक पूरा उपन्यास'। मैंने उससे कहा है कि तुम लिख सको तो लिख डालो, बाद में हम देख लेंगे। सुधीर पर अनुराग का लेख पढ़ते हुए मुझे सारी बातें याद आ गयीं। सुधीर कल ही मुझसे मिलने आया था। कहीं जाना था, इसलिए 15 मिनट ही ठहर सका। फिर आयेगा।

-विष्णु प्रभाकर, पीतमपुरा, दिल्ली

◆

भारतीय लेखक को सादगी के साथ जो रंग-रूप दिया है, वह अपने आप में बड़े दुस्साहस का काम है। हमारे एक पूर्व साथी भाई सुधीर जी के बारे में छाप कर उन्हें जो सम्मान दिया, उससे यहां हम सभी साथी गौरव महसूस करते हैं।

-संजय यादव, कैलाश भगत, कैदी सैंट्रल जेल, गोवा

भारतीय लेखक निरंतर निखार पर है। यह बहुत जल्दी वयस्क हो गया है। हिंदी के साहित्यकारों के लिए अनिवार्य। आपकी दृष्टि बिलकुल साफ है इसलिए दृश्य भी। आप घोड़े को घोड़ा कह सकते हैं, उसे 'अश्व' या 'घोटक' नहीं बनाते। इसी तरह गधे को गर्दभ नहीं। 'भारतीय लेखक' का यह खड़ापन (खरापन भी) मुझे पसंद है। मैत्रेयी पुष्पा, हरिपाल त्यागी के संस्मरण मुझे अच्छे लगे।

विवेक त्यागी के स्तंभ 'अच्छी हिंदी' में एक त्रुटि है। 'अहा, ग्राम्य जीवन भी क्या है,' पंक्ति सुमित्रानंदन पंत की नहीं, मैथिलीशरण गुप्त की है।

-कान्ति कुमार जैन, सागर

◆

भारतीय लेखक अपने ढंग का एक अलग प्रयास और साथ ही एक जरूरी पत्रिका है। इसमें हिंदी के विशिष्ट लेखक पर विशेष सामग्री की भांति अन्य भारतीय भाषा के किसी प्रमुख रचनाकार पर भी सामग्री होनी चाहिए, तभी इसके नाम की सार्थकता सिद्ध होगी। कॉपीराइट एक्ट तथा लेखकों-प्रकाशकों के बीच होने वाले अनुबंध-पत्रों पर सामग्री होना क्या पत्रिका को और उपयोगी नहीं बनाएगा? *-हृदयेश, शाहजहांपुर*

पाठकों से

पाठकों ने 'भारतीय लेखक' का बहुत गर्मजोशी से स्वागत किया है। उन्होंने जो अपनापन और प्यार दिया है, वह 'भारतीय लेखक' की अक्षय पूंजी है। स्थानाभाव के कारण हम जिन मित्रों के पत्र प्रकाशित नहीं कर पाये, आशा है- वे अपना स्नेह बराबर बनायें रखेंगे। कृपया अपनी प्रतिक्रियाएं स्पष्ट और निर्द्वंद्व भाव से लिखें। उससे आप 'भारतीय लेखक' को बेहतर बनाने में सहायक होंगे।

- संपादक

हिंदी पुस्तकें किस खारे कुएं में डुबोयी जाती हैं!

पुस्तक-संस्कृति के दो प्रमुख घटक हैं- लेखक और पाठक। उनके बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाने वाला तीसरा घटक प्रकाशक भी है। जबसे पुस्तकों की सरकारी खरीद का चलन हुआ, तबसे मध्यस्थ की भूमिका में एक और घटक- शासन भी जुड़ गया है।

लेखक अक्सर शिकायत करता है- किताबें नहीं बिकतीं। पाठक है ही नहीं। है तो कुपढ़। उसे या तो राजनैतिक सनसनी चाहिए या फिर बिस्तर गर्म करने वाली पोर्नोग्राफी। पापों को धोने वाला धार्मिक साहित्य का साबुन भी चलता है। नहीं चलता तो सृजनात्मक साहित्य- उपन्यास, कहानी, कविता आदि!

किताबें कम बिकती हैं तो लेखक को रायल्टी भी कम मिलती है। हिंदी में बहुत कम ऐसे लेखक हैं, जिनका लेखन की आय से निर्वाह हो जाता हो। आजीविका चलाने के लिए उन्हें कोई न कोई दूसरा काम करना पड़ता है। समय और ऊर्जा का बड़ा भाग उस काम में खप जाता है। लेखन के लिए केवल हाशिये का समय बच पाता है। ऐसे में जैसा लेखन संभव है, वह हो ही रहा है। बेचारे लेखक से और क्या उम्मीद की जा सकती है!

बात इतनी सीधी है नहीं, जितनी ऊपरी सतह पर देखने से लगती है। विश्व के जिन भी लेखकों ने महत्वपूर्ण लेखन किया, अस्तित्व के तमाम संकटों को झेलते हुए ही किया। इन संकटों को निमंत्रित कोई नहीं करता। ये परिस्थितियों से पैदा होते हैं और लेखक के निर्माण में इनका भी हाथ होता है। उसे अपने लेखन का कच्चा माल- जीवन का अनुभव इन्हीं आर्थिक, सामाजिक तथा भावनात्मक संकटों से गुजरते हुए प्राप्त होता है। अगर आप किसी लेखक को बिना जीवनानुभव के, शानदार एयर कंडीशंड कमरे में, बड़ी सी मेज पर बैठा दें और कहें कि लिख! तो वह लिख पायेगा? और लिख पायेगा तो क्या लिख पायेगा? उस लेखन में सत्व होगा? वह पाठक के किसी काम का होगा? और काम का नहीं होगा तो पाठक उसे खरीदेगा क्यों?

आज हिंदी में विपुल मात्रा में ऐसा लेखन हो रहा है। उसके लेखक दंभ के साथ कहते हैं- हम पाठक के लिए नहीं लिखते। हमारा कमिटमेंट सिर्फ लेखन के प्रति है। ऐसे लेखकों की किताबें नहीं बिकतीं तो उन्हें शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं।

लेखक को शिकायत सिर्फ पाठक से नहीं, प्रकाशक से भी है- प्रकाशक शोषक है। वह हिसाबफहमी करता है। लेखक को रायल्टी नहीं देता। बंगलों में रहता है और हर साल गाड़ी का मॉडल बदल देता है। अफसरशाहों को लाखों की रिश्वत देकर करोड़ों के आर्डर झटक लेता है। बेचारा लेखक घाघ प्रकाशक का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। उसने लिखा है तो छपाना भी चाहेगा। और छपाना चाहेगा तो प्रकाशक के पंजे से बच नहीं सकेगा!

लेखक जन्मजात असंतुष्ट और क्रुद्ध किस्म का प्राणी है। वह किताबें न बिकने के कारण नाराज है लेकिन यह सोचने की तकलीफ गवारा नहीं करता कि प्रेमचंद की बिक्री दिन-ब-दिन क्यों बढ़ती जा रही है? यशपाल आज भी इतने लोकप्रिय क्यों हैं? फणीश्वरनाथ रेणु की इतनी ख्याति क्यों है? परसाई पाठकों के चहेते क्यों बने हैं? हिंदी लेखक ही नहीं, उर्दू के मंटो और बेदी, बांग्ला के शरत् और रवींद्र, मराठी के शिवाजी सावंत और विजय तेंदुलकर, मलयालम के तक्षी शिवशंकर पिल्लई, कन्नड़ के भैरप्पा हिंदी में भी इतने चाव से क्यों पढ़े जाते हैं? सीधा जवाब है- इन तमाम लेखकों का जीवन से गहरा लगाव है और यथार्थ पर पकड़। इनकी रचनाओं में पाठकों को अपने जीवन की धड़कन सुनायी देती है। उस धड़कन को बार-बार सुनने के लिए ही पाठक उनके पास जाते हैं।

इसके विपरीत कलावादी लेखक ने पाठक की उपेक्षा कर महानता के शार्टकट अख्तियार कर लिए हैं। उसके लिए लेखक होने का मतलब अच्छा लिखना नहीं, पाठ्य पुस्तकीय बन जाना, अकादमियों तथा विश्वविद्यालयों के सृजनपीठों पर पदारूढ़ होना, विदेश यात्राओं के जुगाड़ बैठाना और राज्यसभा की सदस्यता हथियाना रह गया है। बिना लिखे ही महान बनने की ललक में वह कुछ ज्यादा ही महान बन गया है। अपने लेखन पर निर्भर न रह कर पुरस्कार-जीवी हो गया है। लेकिन अगर लेखक के पास अपनी पाठक-संपदा नहीं तो इन ऊपरी कर्मकांडों से लाखों नहीं, करोड़ों बटोर कर भी वह महा दरिद्र है। पाठकों से कट जाने वाला यह लेखक भी पुस्तकों के न बिकने का एक बड़ा कारण है!

साहित्य के माई-बाप पाठक की जितनी उपेक्षा लेखक ने की, उससे सौ गुना प्रकाशक ने। प्रकाशक

मूलतः व्यवसायी होता है और शोषण करना व्यवसायी का कौशल माना जाता है। एक प्रकाशक ने प्रेमचंद के प्रारंभिक उपन्यासों के कापीराइट केवल दो-दो सौ रुपये में खरीद लिये थे। प्रकाशकों के इस व्यवहार से खिन्न होकर कई लेखकों को अपने प्रकाशन आरंभ करने पड़े। उन लेखकों में प्रेमचंद भी एक थे।

लगभग पांच दशक पहले जो साहित्यिक पुस्तकें छपती थीं, उनका एक छोटा हिस्सा पुस्तकालयों में जाता था और बड़ा हिस्सा पाठक खरीद कर पढ़ता था। तब लेखक सीधे अपने पाठक तक पहुंचता था और प्रकाशक व्यवसाय करने के साथ-साथ लेखक और पाठक के बीच मध्यस्थ की भूमिका भी निभाता था। लेकिन अब प्रकाशक घोर व्यवसायी बन गया है।

कुछ समय पहले तक रूस के विदेशी भाषा प्रकाशन गृह से विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रकाशित रूसी साहित्य तथा अन्य विषयों की सुमुद्रित पुस्तकें बहुत सस्ते मूल्य में सुलभ थीं। रूसी जनजीवन के बारे में होने के बावजूद भारत में उनकी जबरदस्त बिक्री होती थी। गीता प्रेम की धार्मिक पुस्तकें भी सस्ती होने के कारण ही बड़ी संख्या में बिकती हैं। हिंद पॉकेट बुक्स ने अपने प्रारंभिक काल में श्रेष्ठ साहित्यिक पुस्तकें एक रुपये की सीरीज में प्रकाशित कीं तो उनकी बिक्री ने नये रिकार्ड कायम किये। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि श्रेष्ठ पुस्तकों का मूल्य सस्ता हो और उसे पाठकों तक पहुंचाया जा सके तो हिंदी में पाठकों की कमी नहीं है।

इधर व्यावसायिक प्रकाशनों के बरक्स वैकल्पिक प्रकाशन के कुछ सार्थक प्रयोग हुए हैं। विकास नारायण राय का साहित्य उपक्रम और लाल बहादुर वर्मा का इतिहास बोध संस्थान आपसी सहयोग से साहित्य तथा साहित्येतर विषयों की उत्कृष्ट पुस्तकें प्रकाशित कर रहे हैं। उन्हें पाठकों का भरपूर सहयोग मिल रहा है। विकास नारायण राय का कहना है- आमतौर पर व्यावसायिक प्रकाशक पुस्तक पर आने वाली लागत का आठ गुना मूल्य रखते हैं, जबकि हम केवल दोगुना मूल्य रखते हैं। वितरक को 30 प्रतिशत कमीशन देने की गुंजाइश हमारे यहां नहीं है। जो कमीशन वितरक को देना होता, वह हम सीधे पाठक को दे देते हैं। इसके बहुत अच्छे परिणाम सामने आ रहे हैं। हमारी कोशिश है कि कुछ शहरों में ऐसी जगहों का प्रबंध किया जाए जहां अच्छी पुस्तकें उपलब्ध हो सकें। फरीदाबाद, करनाल, नरवाना आदि जगहों में दुकान की व्यवस्था हो गयी है। नरवाना में हर महीने 10 हजार की किताबें बिक जाती हैं। कुरुक्षेत्र से एक सज्जन आये और सांप्रदायिकता विरोध वाली किताब की 500 प्रतियां खरीद कर ले गये।

जनचेतना का प्रकाशन 'परिकल्पना' सोद्देश्य तथा सस्ती पुस्तकें प्रकाशित कर रहा है। दिल्ली के पिछले पुस्तक मेले में 'भगतसिंह की जेल डायरी' का पूरा संस्करण ही बिक गया था। मेरठ के संवाद प्रकाशन ने भी जनरुचि का ध्यान रखते रोचक तथा सस्ती साहित्यिक पुस्तकें प्रकाशित की हैं। सुकेश साहनी जनसुलभ पेपरबैक्स के नाम से बहुत ही सस्ती और सुरुचिपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित कर रहे हैं। उनका कहना है- बिक्री का कोई तंत्र न होते हुए भी वह बरेली जैसे छोटे शहर से ही दो-तीन हजार का संस्करण आराम से बेच लेते हैं। काफी पुस्तकों के आर्डर डाक से आ जाते हैं और कुछ पाठक सीधे घर से पुस्तकें ले जाते हैं।

ये उदाहरण सिद्ध करते हैं कि श्रेष्ठ पुस्तकों के पाठकों की कमी नहीं। उनमें पढ़ने की तीखी ललक है। वैकल्पिक प्रकाशन के ये प्रयोग काफी उत्साहवर्धक हैं और आशा जगाते हैं कि इलेक्ट्रानिक मीडिया की मार के बावजूद पुस्तक का भविष्य अंधकारमय नहीं है।

आजादी के साथ-साथ भ्रष्टाचार की नदी में बाढ़ आयी तो पुस्तक जैसी पवित्र वस्तु भी डूबने से बच नहीं सकी। भ्रष्ट सरकार के महाभ्रष्ट नौकरशाहों ने साहित्य के संरक्षण के नाम पर सरकार के विभिन्न विभागों में किताबों की थोक खरीद का प्रावधान करा लिया। लेकिन साहित्य के संरक्षण के बजाय नौकरशाहों और उनके माध्यम से राजनेताओं को ही संरक्षण मिला।

पुस्तकों की थोक खरीद पर अधिकारियों का कमीशन तय होने लगा। कमीशन घूसखोरी का खूबसूरत नाम है। पहले दस-पंद्रह प्रतिशत कमीशन लिया जाता था, वह बढ़कर पच्चीस-तीस और चालीस प्रतिशत तक पहुंच गया। किताबों की कीमतें बढ़ाये बिना इतनी मोटी रिश्वत नहीं दी जा सकती थी। जितनी ज्यादा कीमत उतनी ही ज्यादा रिश्वत। नौकरशाह प्रकाशक पर दबाव डालता कि किताबों की कीमतें ज्यादा-से-ज्यादा रखी जाएं। जैसे-जैसे रिश्वत की दर बढ़ती गयी, वैसे ही किताबों की कीमतें बढ़ती गयीं। और कीमतें बढ़ती गयीं तो किताबें पाठक की पहुंच के बाहर होती गयीं। कुछ समय तक साहित्य के पाठक ने बेचैनी महसूस की, फिर वह धीरे-धीरे सस्ती बाजारू पुस्तकों की तरफ मुड़ गया। पाकेट बुक्स के चलन ने इस प्रवृत्ति को और बढ़ावा दिया।

दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी के एक सर्वेक्षण के अनुसार पाठक हिंदी साहित्य की केवल दो प्रतिशत पुस्तकें खरीदता है। उन दो प्रतिशत में भी कुछ ही लेखक और उनकी भी कुछ खास किताबें हैं, जिन्हें पाठक खरीद कर पढ़ता है। बाकी अठानवें प्रतिशत किताबें कहां जाती हैं? वह कौन सा खारा कुआं है, जिसमें वे डुबो दी जाती हैं? वह खारा कुआं है- हमारी कल्याणकारी सरकार और उसके नौकरशाहों का महाभ्रष्ट तंत्र। मानव संसाधन मंत्रालय, योजना मंत्रालय, सामुदायिक विकास मंत्रालय, रक्षा मंत्रालय, विदेश मंत्रालय आदि द्वारा हर साल करोड़ों रुपये की पुस्तकों की खरीद की जाती है। प्रादेशिक सरकारों के विभिन्न विभाग भी थोक खरीद करते हैं। थोक खरीद की ये पुस्तकें या तो कुछ निष्क्रिय पुस्तकालयों की अलमारियों में कैद हो जाती है या फिर गोदामों में सड़ती रहती हैं। वे पाठकों तक नहीं पहुंच पातीं। सार्वजनिक पुस्तकालयों तथा स्कूल-कॉलेजों के पुस्तकालयों द्वारा जो किताबें खरीदी जाती हैं, वे भी

सरकारी अनुदान से ही। हिंदी पुस्तकों की एकमात्र खरीदार सरकार रह गयी है। और जहां सरकार, वहीं भ्रष्टाचार!

पुस्तकों की थोक खरीद से सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि पुस्तकें पाठकों के नहीं, सिर्फ गोदामों के लिए खरीदी जाने लगीं इसलिए उनकी सामग्री की गुणवत्ता की तरफ कतई ध्यान नहीं रहा। उनके आवरण और साज-सज्जा की चमक बढ़ती गयी और कथ्य कमजोर पड़ता गया। प्रकाशक जैसे-तैसे लेखकों से जल्दबाजी में जैसी-तैसी पुस्तकें लिखवाता, उन्हें चमकदार कवर में लपेट कर सबमिट करता और घूस के जोर पर आर्डर झटक लेता है। इस तरह पुस्तकों की लाश पर धंधा चलता है।

कभी साहित्यिक पुस्तकों का पहला संस्करण दो-तीन हजार प्रतियों का होता था। अब वह घट कर पांच सौ और कभी-कभी तो तीन सौ प्रतियों तक आ गया है। प्रकाशक ने कम संख्या में पुस्तकें छाप कर और उनकी अनाप-शनाप कीमतें रखकर ज्यादा मुनाफा कमाने का शार्टकट अपना लिया है।

पुस्तकों की सरकारी खरीद के कारण कुछ अफसरशाह खुद भी लेखक बन गये। वे जैसा-तैसा लिखते, प्रकाशक तुरत उसे छाप कर साहब को रिझाने लगे। अफसर को उन किताबों की खरीद पर कमीशन तो मिलता ही, रायल्टी अलग। अफसर ही नहीं, कुछ अफसरों की बीवियां भी लेखिका बन गयीं। उन्होंने प्रेम करने की उम्र में जो कविताएं, कहानियां लिखी थीं, वे फटाफट छपने लगीं। ऐसे भी उदाहरण सामने आये कि प्रकाशक ने किसी भाड़े के लेखक से जैसा-तैसा लिखवा कर मैडम के नाम से छाप दिया और साहब से किताबों का बड़ा-सा ऑर्डर ले लिया। साहब, बीवी और गुलाम- तीनों खुश!

एक प्रकाशक ने चिकने चेहरे पर आयी सफलता की मुस्कान दबा कर कहा, ''क्या बताएं, अब इस धंधे में कुछ नहीं रह गया। किताबें बिकती ही नहीं...''

मैंने कहा, ''किताबें तो बिकना चाहती हैं, लेकिन आप बेचना नहीं चाहते!''

''हें-हें! आप क्या कह रहे हैं! हमारा तो काम ही किताबें बेचना है!''

''है, लेकिन पाठक को नहीं, सरकार को! सरकार खुश रहे तो पाठक जाये जहन्नुम में!''

लगभग पचास बरस पहले सौ पृष्ठ की किताब का मूल्य दो-अढ़ाई रुपये होता था। अब वह सौ-सवा सौ रुपये तक पहुंच गया है। इन वर्षों में मंहगाई इतनी नहीं बढ़ी, जितनी पुस्तकों की कीमतें। पाठक पुस्तक को उलट-पलट कर देखता है, उसका मन ललचाता है लेकिन कीमत देख कर हौसला पस्त हो जाता है। वह किताब को रख कर चुपके से शोरूम से बाहर निकल आता है।

हिंदी पुस्तकों का ग्राहक नहीं रहा, इसलिए एक-एक कर किताबों की दुकानें बंद होती गयीं। छोटे शहरों की तो बात ही क्या, महानगरों तक में साहित्यिक किताबों की दुकानें नहीं रह गयी हैं। जो कुछ दुकानें हैं भी, वे पाठ्य पुस्तकें, या फिर सनसनीखेज अथवा धार्मिक पुस्तकें ही रखती हैं। वे साहित्यिक पुस्तकों की उतनी ही प्रतियां मंगाती हैं, जिन्हें पुस्तकालयों में खपाया जा सके। यदि कोई पाठक अपने प्रिय लेखक की पुस्तक खरीदना चाहे तो पूरे शहर की खाक छानने के बाद भी उसे निराश होना पड़ेगा!

निरंतर बढ़ती डाक दरों के कारण पाठक को पुस्तक भेजना कठिन हो गया है। लेखकों और प्रकाशकों को सामूहिक रूप से डाक दरें कम कराने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

पुस्तकों को पाठकों से दूर रखने और पुस्तक-संस्कृति को नष्ट करने की सबसे बड़ी जिम्मेदार सरकार है। स्वाधीनता के बाद शिक्षा का प्रसार हुआ और एक सीमा तक साक्षरता बढ़ी लेकिन पुस्तक-संस्कृति पर उसका उलटा प्रभाव हुआ। पुस्तकें ज्यादा-से-ज्यादा लोगों तक पहुंचने के बजाय उनसे दूर होती गयीं। इसका सबसे बड़ा कारण सरकारी थोक खरीद का मकड़जाल है। भ्रष्ट नौकरशाही के तुच्छ मोह के कारण लोग पढ़-लिख कर भी अनपढ़ बनाये रखने की साजिश का शिकार होते गये।

अगर पुस्तक-संस्कृति को बचाना है तो सबसे पहले सरकारी थोक खरीद के चक्रव्यूह को भंग करना होगा।

सरकार को आपसी जूतम पैजार से ही फुरसत नहीं, इसलिए उससे उम्मीद करना व्यर्थ है। सरकार और उसके नौकरशाहों ने ही तो यह चक्रव्यूह रचा है।

प्रकाशक के हित भ्रष्ट तंत्र से जुड़े हैं इसलिए वह कतई नहीं चाहेगा कि यह तंत्र भंग हो। कुछ लेखक भी सत्ता के फल बटोरने में लगे हैं। लेकिन ऐसे प्रतिबद्ध एवं जागरूक लेखक भी हैं जो अपने दायित्व को समझते हैं। उन्हें एकजुट होकर अभियान चलाना होगा और सरकार को मजबूर करना होगा कि वह सरकारी थोक खरीद की जनविरोधी तथा संस्कृति विरोधी व्यवस्था को भंग करे, ताकि प्रकाशक मजबूर होकर फिर पाठकों के पास लौटें और साहित्य इस खारे कुएं से बाहर निकल सके।

अभिमन्यु त्यागी

मधुरेश

वरिष्ठ कथा-समीक्षक तथा यशपाल-परिवार के निकट मित्र द्वारा प्रकाशवती एवं यशपाल के सहजीवन की मुखर रेखाएं

प्रकाशवती पाल : नेपथ्य में यशपाल

यशपाल से भी पहले मेरा सामना प्रकाशवती से हुआ था। उनका पत्र भी मुझे यशपाल से पहले मिला और उनसे मिलना भी पहले हुआ। 'यशपाल के पत्र' में जो पत्र हैं, उनकी शुरुआत से पहले जो पत्र मुझे मिला था, वह प्रकाशवती जी का ही था। जहां तक याद पड़ता है, यशपाल को पहला पत्र मैंने सन् 1954 में लिखा था- कॉलेज में आने पर उनका 'सिंहावलोकन' और 'कहानी' के 55 के वार्षिकांक में उनकी कहानी और उससे भी अधिक उनका लेख 'मैं कहानी कैसे लिखता हूं?' को पढ़कर। वह विशेषांक अक्तूबर 54 में ही निकल गया था। फिर कुछ दिनों तक उनके उत्तर की प्रतीक्षा के बाद यशपाल का कोई पत्र न आने पर मैं हताश होकर बैठ चुका था। फिर एक दिन अचानक एक पोस्टकार्ड मुझे मिला प्रकाशवती का लिखा हुआ। उसमें यह सूचना थी कि यशपाल को लिखा मेरा पत्र उन्हें मिल गया है। यशपाल तब बंबई में थे और प्रकाशवती जी की सूचनानुसार मेरा पत्र उन्हें भिजवा दिया गया था और यह भी कि वे वहीं से उत्तर देंगे। इसके बाद बहुत महीन अक्षरों में यशपाल का बम्बई से लिखा पत्र सचमुच मुझे मिला था। मुझे मिला वही उनका पहला पत्र था। अच्छी तरह याद है कि उसे बहुत दिनों तक जेब में डाले मैं अपने मित्रों और साथियों को दिखाते हुए इतराता फिरा था कि यह यशपाल का पत्र है- उन्हीं यशपाल का जिन्होंने वायसराय की ट्रेन के नीचे बम रखा था। जो भी हो, वह पत्र 'यशपाल के पत्र' में नहीं है- शायद वह इस लायक ही नहीं रह गया था कि अधिक समय तक सुरक्षित रह सके। लेकिन उससे आगे का रास्ता अवश्य खुला।

फिर कई बरस बाद, एम.ए. प्रीवियस अंग्रेजी की परीक्षा देकर सन 1959, की गरमियों में जब मैं पहली बार लखनऊ गया, तब यशपाल के यहां भी गया, बिल्कुल अचानक बिना किसी पूर्व सूचना के। लेकिन इस बीच मेरा उनसे पत्राचार बना रहा था और उनके कई पत्र मुझे मिल चुके थे। बरेली के एक स्थानीय पुस्तक विक्रेता को विप्लव कार्यालय की पुस्तकें भी मेरे मार्फत आती थीं और प्रकाशवती जी, मेरे परिचय के आधार पर, भुगतान बाद में ले लेती थीं। इसमें एक बार ढील होने पर जब पुस्तक विक्रेता ने न तो उनका भुगतान किया और न ही उनके पत्रों का उत्तर दिया, उन्होंने एक पत्र सीधे मुझे लिखा था, उस विक्रेता को चेताने की गरज से, जिसमें सीधे कानूनी कार्रवाई की बात भी उन्होंने लिखी थी। उसका असर भी तत्काल हुआ था।

मुझे याद है, सन 1956 में 'अमिता' निकलने पर मेरी प्रति प्रकाशवती जी ने उसी विक्रेता को, किताबों के साथ भिजवाई थी- उस पर मेरा नाम लिखकर। प्रायः ऐसा भी होता था कि मैं पत्र यशपाल को लिखता था, लेकिन उनके व्यस्त रहने या फिर बाहर होने की स्थिति में उसका उत्तर मुझे प्रकाशवती जी से मिलता था। इस पृष्ठभूमि में ही उनसे मेरी पहली भेंट 1959 की गरमियों में हुई थी। तब यशपाल विप्लव प्रकाशन वाली बिल्डिंग में ही हीवेट रोड पर रहते थे।

बाहर सड़क की ओर खुलने वाली बैठक की घंटी बजाने पर आनंद निकल कर आए। मेरे साथ एक मित्र भी थे। आनंद के अंदर जाने के थोड़ी देर बाद प्रकाशवती अंदर से आई थीं। सिल्क की साड़ी और कायदे से बंधे जूड़े में एक आकर्षक और प्रभावशाली व्यक्तित्व की स्वामिनी-सी। 'सिंहावलोकन' में मैंने उनका जो फोटो देखा था वह काफी पहले का था, जब वे चश्मा नहीं लगाती थीं, लेकिन समय के इस अंतराल और बढ़ी हुई उम्र के बावजूद वे वहीं थीं। चूंकि हम दो लोग थे, मैंने अपना परिचय दिया और फिर वहीं बैठक में बैठकर कुछ बातें हुईं। उन्होंने शायद मेरे आने का कारण और वहां ठहरने आदि के बारे में पूछा था। बेहद तेज गर्मी थी और दोपहर अभी भी ठीक से ढली नहीं थी। चाय को मना कर देने पर उन्होंने पानी मंगवाया। यशपाल के मसूरी जाने की सूचना भी उन्होंने दी- बेटी किरन के साथ। प्रेस के काम की वजह से वे नहीं जा सकी थीं, लेकिन बेटे के साथ कुछ समय बाद जायेंगी। मुझे हताश देखकर उनका यह कहना मुझे खूब याद है... ''अरे बरेली कौन दूर है... अगली बार आने पर मिल लें...'' फिर मैंने तत्कालीन पेप्सू सरकार द्वारा यशपाल को भेंट किए गए अभिनंदन ग्रंथ की चर्चा की। अंदर जाकर वे मोटा-सा काली रैक्सीन की जिल्द वाला वह ग्रंथ ले आईं। मैं वहीं बैठे-बैठे उसके पन्ने उलट रहा था कि बोलीं, ''इसे साथ ले जायें, आराम से पढ़ें और अगली बार आने पर लेते आयें...''

यशपाल से मिले बिना ही, यह प्रकाशवती से मेरी पहली भेंट थी।

फिर अगली बार उनसे सन 1963 में मिलना हुआ- महानगर वाले उनके निवास पर। इस बीच स्थिति थोड़ी बदल चुकी थी। सन् 1962 में 'लहर' के दिसंबर अंक में यशपाल पर प्रकाशित अपनी टिप्पणी से मैं बाकायदा आलोचना की राह पकड़ चुका था और उस टिप्पणी का भरपूर नोटिस लिया गया था। उसके बाद यशपाल ने मुझे पत्र लिखा था और कलकत्ता से प्रकाशित 'रूपलेखा' के संपादक छेदीलाल गुप्त को रामविलास शर्मा के उत्तर में लिखने के लिए मेरा नाम सुझाया था। अपने पत्र में उन्होंने उस पत्र की प्रतिलिपि भी नत्थी की थी। उसी टिप्पणी के बाद यशपाल की बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशवती जी ने भिजवाई थीं। आगे भी यह क्रम चलता रहा और इस सबकी व्यवस्था प्रकाशवती जी ही करती थीं। अगस्त 1963 में मैं दो दिन लखनऊ में रुका था। ठहरा डालीगंज में अपने एक संबंधी के यहां था। रोज सुबह को यशपाल के यहां चला जाता था, दिन भर वहीं रहता था और शाम को लौटता था।

प्रकाशवती जी तब पचास को पहुंच रही थीं, लेकिन बहुत चुस्त-दुरुस्त और सुरुचि संपन्न महिला। हल्के रंग की साड़ी पर मैच करता ब्लाउज। हाथ में छोटी-सी घड़ी और सोने की दो-दो चूड़ियां। सलीके और सादगी से बांधा गया जूड़ा। पैर में प्रायः चप्पल ही पहनतीं। सुबह का नाश्ता हम सब लोगों के साथ ही लेतीं और फिर अपना टिफिन लेकर प्रेस को निकल जातीं। शाम को प्रायः छह के आस-पास लौटतीं। गर्मी और थकान का प्रभाव उनके चेहरे पर स्पष्ट नहीं होता था, जबकि वे थकी अवश्य होती थीं। आते ही हाथ-मुंह धोकर पहले वे चाय पीती थीं, प्रायः हमारे साथ ही, और फिर कुछ देर वहीं बैठकर गप-शप करती थीं। इसी बीच प्रेस संबंधी जरूरी सूचनाएं वे यशपाल को देतीं। प्रेस में जॉब वर्क भी होता था, लेकिन अधिकतर काम यशपाल की नई किताब की छपाई के अतिरिक्त पुरानी किताबों के पुनर्मुद्रण का चलता था। नई किताब की छपाई आदि की व्यवस्था वे देखती थीं, प्रूफ सामान्यतः यशपाल पढ़ते थे। वे इस ओर विशेष ध्यान देती थीं कि किन-किन किताबें के संस्करण समाप्त हो रहे हैं और उनमें भी किसका पुनर्मुद्रण पहले जरूरी है। प्रेस की सारी झंझटें- सप्लाई, लेबर, कागज, जिल्दबंदी और टैक्स आदि उन्हीं के जिम्मे थीं। जब 'विप्लव' निकलता था तो विज्ञापनों और उसकी वार्षिक सदस्यता तथा एजेंसी के लिए सारी भाग-दौड़ वे ही अधिकतर करती थीं। बाद में वे जब-तब कहती थीं, "'विप्लव' के लिए मैंने आपकी बरेली के बहुत चक्कर काटे हैं।"

मैं उनके साथ प्रेस कभी नहीं गया, लेकिन प्रेस की समस्याओं की चर्चा वे जब-तब घर पर भी करती थीं। लिखने के लिए यशपाल के कागज से लेकर उनके सिगरेट, सिगार और ऐसी ही दूसरी व्यवस्था भी वे करती थीं। इसी के साथ घर-गृहस्थी की छोटी-बड़ी जरूरतों को भी वे बहुत शांत और सहज भाव से निपटाती थीं- वह सब जैसे उनकी आदत में शुमार हो। न उन्हें धोखा दिया जा सकता था, न ही बुली किया जा सकता था। यशपाल को मछली बहुत पसंद थी। शाम को खाने में वे जब-तब उसे लेना पसंद करते थे। लेकिन मछली की पहचान यशपाल से भी ज्यादा शायद प्रकाशवती को थी। मेरे सामने ही एक बार एक आदमी ताजी मछली लेकर आया था। प्रकाशवती जी ने जिस तरह उन मछलियों में से कुछ छांटी थीं, उनके बारे में उससे देर तक बात करती रही थीं, उससे मैं ही नहीं वह आदमी भी विस्मित था। उनका स्वभाव समझ कर वह हर तीसरे-चौथे दिन ताजी और अच्छी मछलियां लाता था क्योंकि वह जान गया था कि अच्छी चीज देकर पैसों के लिए अधिक मोल-भाव नहीं करना होता। बाद में रंग-रोगन करने वाले मिस्त्रियों सहित कुछ और लोगों से भी मैंने उन्हें काम करवाते देखा था। काम एकदम चाक-चौबंद और पैसों को लेकर कोई झिकझिक नहीं। न धोखा देकर उनसे कोई अधिक पैसे ले सकता था, न हीं किए गए काम की झोल छिपाकर उन्हें भरमा सकता था। हमेशा लगता था कि हर मामले में जो और जितना जानना चाहिए, वे जानती हैं। न वे दूसरों को दबाती थीं, न ही अपना नुकसान उठाने को तैयार थीं, इसीलिए आदमी उनके यहां खूब निभते थे। उनके माली की एक टांग खराब थी, लेकिन वह बरसों उनके यहां बना रहा। घर की नौकरानी जुबेदा कभी नौकरानी जैसी लगी ही नहीं। वह उनकी नौकरानी भी थी और सहेली भी। उनके खान-पान, हारी-बीमारी हर चीज का ख्याल वह रखती थीं। कनाडा जाने पर वे पूरा मकान उसी पर छोड़ गई थीं। उसी दौरान एक बार मेरे अचानक वहां पहुंचने पर उनकी अनुपस्थिति में भी, उसने लगने ही नहीं दिया कि वे नहीं हैं।

प्रकाशवती की छवि आमतौर पर एक सख्त, रूखी और व्यवसायी स्त्री की थी। व्यवसाय में दबना वे नहीं जानती थीं और अपने डूबते हुए पैसे की वसूली के लिए जब-तब उन्हें परेशान और दुखी होते भी देखा था। वे चाहती थीं कि परिश्रम और सिर्फ परिश्रम के बल पर ईंट-ईंट जोड़कर जो इमारत उन लोगों ने खड़ी की है, वह कहीं से कमजोर और पोली न रहे। यशपाल शुरू में प्रायः ही जिक्र करते थे कि युनिवर्सिटी के छात्र अपने आंदोलन के पर्चे आदि सामान्यतया उनके प्रेस में ही छपाते थे। उन्हें लेने आते वक्त वे इस बात का ध्यान रखते थे कि तब वहां प्रकाशवती मौजूद न होकर, यशपाल हों। यशपाल से उन पर्चों को आधे-अधूरे भुगतान या उधारी के आश्वासन पर उठाया जा सकता था, जबकि प्रकाशवती के साथ यह संभव नहीं था। जितना पैसा तय हुआ है, उसका पूरा भुगतान किए बिना उनसे चीज नहीं ली जा सकती थी।

अपने बच्चों को वे बहुत प्यार करने वाली मां थीं, लेकिन फिर भी कुछ था जो बच्चे किरन और आनंद उनके मुकाबले यशपाल से अधिक सहज और खुले थे, कम से कम अपने व्यक्तिगत संदर्भों में। यशपाल के निधन के बाद जब मैं लोकभारती वाली किताब के सिलसिले में लखनऊ में था, मांट्रीयल से किरन भी आई हुई थीं। यशपाल के निधन के समय वे लोग नहीं आ सके थे। खाने के बाद, चांदनी रात में, लॉन में टहलते हुए देर तक हम लोग उनके घरेलू और पारिवारिक प्रसंगों पर बात करते रहे थे। वहीं

एक ओर लॉन में ही यशपाल की अस्थियां दबाकर एक छोटा-सा चबूतरा बना दिया गया है। किरन जैसे किसी जादुई स्पर्श से अपने अतीत के बीचों-बीच थीं। फिर वह अचानक भरे और भर्राए हुए गले से बोलीं, ''एक बात आपको बताऊं मधुरेश जी, जब मेरा सुदर्शन से अफेयर शुरू हुआ तो मैं इसे घर में किसी को बताना चाहती थी... बहुत कोशिश करके भी मैं ममी को नहीं बता सकी, वैसे उधर से कोई डर नहीं था, लेकिन पापा को लेकर मैं अधिक श्योर थी... उन पर जैसे हमेशा विश्वास किया जा सकता था...'' ऐसा नहीं है कि प्रकाशवती की भूमिका इस प्रसंग में भिन्न थी, लेकिन गहरे प्यार के बावजूद शायद उनकी अभिव्यक्ति कहीं बहुत संयत और अनुशासित थी, इसीलिए आशंका की एक हल्की-सी गुंजाइश हमेशा बनी रहती थी। घर में उन्होंने बच्चों को बहुत उदार और वर्जनामुक्त वातावरण दिया था। सिगरेट पीते समय किरन शुरू में मुझे भी ऑफर करती थीं। लेकिन तब तक मैं सिगरेट और पाइप छोड़ चुका था। उन्हें मना करते हुए मुझे शर्म-सी लगती थी। बाद में मीना को मैंने प्राय: ही घर पर स्कर्ट पहने और कभी-कभार बीयर लेते भी देखा था।

प्रकाशवती के कड़ियल और किसी कदर ऊपर से रूखे व्यक्तित्व के नीचे अपनत्व और ममता की एक अंतर्धारा हमेशा बहती थी। छोटी-छोटी बातें हैं जिनके ध्यान रखने से लगता है, वे वही नहीं थीं जो सिर्फ ऊपर से दिखाई देती थीं। यह भी संभव है कि घर से बाहर निकलकर काम करने के लिए वह अपने प्रसंग में अपनाई गई एक मुद्रा ही हों जिसे वे रणनीति के तौर पर इस्तेमाल करती हों। सन 1973 में 'यशपाल के पत्र' नामक अपनी पुस्तक के लिए यशपाल के एक लंबे संस्मरण की तैयारी में मैं कई दिन वहां रहा था। संयोग से तब बालकृष्ण राव भी वहां आए हुए थे। आमतौर पर घर के जिस अतिथिकक्ष में मैं रुकता था, उसमें वे रुके थे और मैं रसोई के पास वाले एक अन्य कमरे में था। रात में कुछ बादल थे, हल्की बूंदा-बांदी भी हुई थी, जिसके कारण सुबह को हवा थोड़ी ठंडी होने से मैंने पंखा बंद कर दिया था। बहुत सुबह चाय लेकर प्रकाशवती जी ही कमरे में आईं और पंखा बंद देखकर बोलीं, ''अरे, गरमी में पंखा बंद पड़ा है...'' फिर चाय मेज पर रखकर पहले उन्होंने पंखा चलाया। मैं जगा हुआ ही था। मैंने उन्हें बताया कि अभी थोड़ी देर पहले ही हवा थोड़ी ठंडी लगने पर मैंने ही उसे बंद कर दिया था तो वे बोलीं, ''अब तो खूब गरमी हो रही है... देखिए आपको पसीना आ रहा है...'' फिर वे चाय लेकर राव साहब के कमरे की ओर चली गई थीं।

एक अन्य प्रसंग थोड़ा और बाद का है। तब किताब के ही सिलसिले में इलाहाबाद जाना था। मेरी इच्छा थी कि जिन लोगों से नए लेख लिखाए जाने हैं, उनसे एक बार स्वयं मिलकर बात करूं। दो दिन में लखनऊ का काम निपटाकर मुझे इलाहाबाद जाना था। गर्मी के दिन थे, लेकिन गाड़ी सुबह जल्दी ही थी। रात में ही तय हो गया था कि मैं पांच से पहले ही उठ जाऊंगा ताकि समय से निकल सकूं। मैंने थोड़ा मार्जिन इसलिए भी रखा था कि टेम्पो से स्टेशन पहुंचकर टिकट आदि लेने का समय बचा रहे। जब मैं तैयार होकर निकलने को था, वे अंदर से आईं। उनके हाथ में लोकभारती के दिनेश चंद्र के लिए लिखा गया पत्र था और एक छोटा-सा पैकेट, पोलेथिन की थैली में। उसे मुझे देते हुए बोलीं, ''जल्दी से कुछ सैंडविच बना दिए हैं... गाड़ी देर से पहुंचती है... पास होने पर रास्ते में खा लेंगे...'' बात करते हुए ही मुझे छोड़ने जब वे बाहर आईं तभी मालूम पड़ा कि शाम को ही मुझे स्टेशन पहुंचाने के लिए कहकर उन्होंने ड्राइवर को बुला लिया था। फिर उसे समझाते हुए बोलीं, ''गाड़ी खड़ी करके टिकट ले लेना और ट्रेन पर बिठा कर ही आना...'' छोटे-छोटे ऐसे कई प्रसंग हैं लंबी अवधि जैसे मैदान में छितरे-बिखरे। लगता है कि उनका ऊपर से दिखने वाला रूखापन अपने काम के प्रति बेहद सजग और चाक-चौबंद रहने की कोशिश का ही एक स्वाभाविक परिणाम था। कठिन संघर्ष झेलकर उन्होंने वह सब खड़ा किया था और यह समझ अपने इस संघर्ष से ही उन्होंने प्राप्त की थी कि व्यवसाय को व्यवसाय की तरह ही चलाया जा सकता है। इसीलिए जीवन और व्यवसाय के घालमेल से वे बचती थीं और बचने की इस कोशिश में जब-तब अपने रूखा होने का प्रभाव डालती थीं, इसकी चिंता किए बिना कि लोग उनके बारे में क्या सोचते और मानते हैं।

इसके बाद फिर प्राय: दो वर्ष बाद लोकभारती वाली किताब की पांडुलिपि लेकर जाना हुआ था। तब प्रदीप सक्सेना भी मेरे साथ थे। कायदे से हमारी ट्रेन दोपहर बारह बजे पहुंचती थी, लेकिन वह लेट थी और उनके घर पहुंचने में तीन बज गए थे। फाटक खुलने की आवाज सुनकर वे स्वयं बाहर आईं। फिर हमें देखकर बोलीं, ''कहां रुक गए थे?... हमने तो घंटों आपका इंतजार किया... खाना भी अभी थोड़ी देर पहले खाया है...'' फिर आदमी भेजकर पास के रेस्टोरेंट से उन्होंने डोसे मंगवाए। सामने बैठकर पूछ-पूछ कर खिलाती रहीं। एक-दो चीजें रसोई में से ले आई थीं। हमारे खा चुकने के बाद उठते हुए वे बोलीं, ''अब थोड़ी देर आराम कर लें, शाम को बैठकर बात करेंगे...'' किताब की सामग्री से वे संतुष्ट थीं। जो एक-दो लेख अभी रह गए थे, उन्हें लेकर शामिल करने की जिम्मेदारी उन्होंने स्वयं ली। अगले दिन सुबह वापसी में बहुत जल्दी ही सब्जी-परांठे का नाश्ता तैयार करवाकर फिर पास बिठाकर खिलाया। बीच-बीच में ठीक से खाने का आग्रह करते हुए, उसी रात मलीहाबाद से आए बनारसी लंगड़ा आम काट-काट कर प्लेट में रखती जाती थीं।

अपने भावों और आवेगों को संयत रखकर भी कैसे आत्मीय और अंतरंग हुआ जा सकता है, यह मैंने प्रकाशवती में बहुत निकट से देखा था। यह भी संभव है कि इसके पीछे भी दुनियादारी के उनके अपने लंबे अनुभव रहे हों और फिर इसे उन्होंने अभ्यास में ढाल लिया हो। उम्र में वे मुझसे करीब पच्चीस वर्ष बड़ी थीं। लेकिन साथ होने पर आगुन्तकों को मेरा परिचय वे हमेशा 'दोस्त' बताकर देती थीं। एक समय मेरा बेटा अनुराग भी अपनी

पोस्टिंग पर कई साल लखनऊ रहा। वह इंदिरा नगर में रहता था और तब मेरे वहां होने पर, उसके साथ कई बार उनके यहां जाना हुआ। जब-तब वे मुंशी पुलिया वाले चौराहे पर मिल जाती थीं। एक बार हमें कुछ खरीदारी करते देख, उन्होंने गाड़ी रुकवाकर लगभग चकित कर दिया था। तब मेरी पत्नी भी साथ थीं। इस बार तब तक मेरा उनकी ओर जाना भी नहीं हुआ था। मेरे वहां होने की कोई सूचना भी उन्हें नहीं थी। गाड़ी से निकलकर उस भीड़ भरे इलाके में उन्होंने पहले मुझसे, और परिचय देने पर, फिर पत्नी से बाकायदा हाथ मिलाया था। बिना बताए चुपचाप बेटे के पास आकर ठहर जाने का उलाहना दिया था और हम लोगों को जल्दी ही घर आने को कहा था। लखनऊ में बेटे के शुरू के दिनों में एकाध बार वह मेरे बिना भी उनसे मिला था। वह बताता था कि वे उससे हमेशा नि:संकोच आते रहने को कहती थीं और चाय पिलाए बिना आमतौर पर नहीं आने देती थीं। शुरू-शुरू में मकान की तलाश में अपने एक-दो परिचितों और संबंधियों के मकान दिखाने स्वयं उसके साथ गई थीं। यशपाल के निधन के बाद मेरा मन वहां जाने को नहीं होता था। मानसिक रूप से मैं यशपाल के बिना वहां होने की स्थिति स्वीकार ही नहीं कर पाता था। उनका निधन 26 दिसंबर 1976 को हुआ था। इसकी सूचना अगले दिन मुझे अखबार से मिली थी। तब मैंने प्रकाशवती जी को संवेदना पत्र लिखा था। बाद में अगले वर्ष अप्रैल में मैं लखनऊ गया था। तब ही लोकभारती वाली किताब की योजना बनी थी। उसके बाद फिर मैं दो वर्ष नहीं गया। जाने पर उलाहने जैसे स्वर में, बातों के बीच, उन्होंने कहा था, ''मधुरेश जी, आपने तो अब आना ही बंद कर दिया है...''

उत्तर में मैंने वही कहा जो सचमुच मेरे मन में था, ''...यशपाल जी के बाद अब आने को बिल्कुल मन ही नहीं करता... अजीब-सा लगता है...''

इस स्थिति में कोई भी और व्यक्ति आसानी से भावुक हो सकता था। लेकिन उनकी आवाज वैसी-ही शांत और संयत थी...''वह तो है... लेकिन काम कौन सा रुकता है... सब चल ही रहा है...'' फिर अनुराग के वहां रहते मेरा लखनऊ जाना बढ़ गया था। उस बीच प्रकाशवती जी के साथ तो कभी रुकना या रहना नहीं हुआ, लेकिन मिलना हर बार होता था। उन्होंने कभी टूटे हुए और हताश स्वर में यशपाल की चर्चा नहीं की। मुझे लगता है कि अपने को संयत रखकर निरुद्वेग रहने का उनका अभ्यास यहां भी उनके काम आया था। उनके बेटी-दामाद बहुत पहले ही कनाडा में बस चुके थे। आनंद के सूत्र भी यशपाल के सामने ही वहां से जुड़ चुके थे। यशपाल के जाने के बाद प्रकाशवती जी अकेली पड़ गईं थीं। शुरू में मीना और उनके बच्चे उनके साथ थे। फिर वे भी आनंद के पास कनाडा चले गए। उस इतने बड़े मकान में वे जुबैदा और माली के साथ रहती थीं- बढ़ती उम्र में घुटनों और आंखों की परेशानी के साथ। लेकिन बड़ी उम्र को मैंने उन्हें कभी बोझ मानते नहीं देखा। कनाडा जाकर घुटने का ऑपरेशन उन्होंने तब कराया जब वे अस्सी के आस-पास थीं। अंत में आंखों की तकलीफ ने उन्हें बहुत परेशान किया। डॉक्टर के गलत इलाज से उनकी रोशनी करीब-करीब जाती रही थी। पहले वे घर-आंगन में छड़ी लेकर चल लेती थीं, बाद में वह भी बंद-सा हो गया। इतने जीवंत और सक्रिय रूप से जीने के बाद उनकी इस असहायवस्था और लाचारी का अनुमान उनके इस पत्र से लगाया जा सकता है जो लिखवाया किसी और से गया है और किसी बच्चे की तरह कांपते और लहरियादार अक्षरों में हस्ताक्षर उनके हैं :

लखनऊ
16.12.99

प्रिय मधुरेश जी,

आपका पत्र मिला। मेरी स्थिति आपने पढ़ ली है। मैं अब अपाहिज हूं। मन में बड़ी खीझ उठती है अपने पर। कभी-कभी दिल में आता है कि जो सामने आए उसे दो-चार झापड़ लगा दूं। पर आप जानते हैं ऐसा हो नहीं सकता। ये मेरी खीझ का प्रदर्शन है। बेबस हूं। मैंने अपनी पुस्तक की समीक्षा 'हंस' में पढ़ी थी। आजकल मैं पत्रों में उलझी रहती हूं और कुछ भी काम नहीं कर पाती हूं। जब ठीक उत्तर नहीं दे पाती तो बेसब्र हो जाती हूं। आप यशपाल जी पर कुछ लिखने की सोच रहे हैं, इस विचार का स्वागत है। कभी-कभी पत्र लिखा करें। प्रगति जानकर मुझे बड़ा संतोष होगा। लगातार बेसब्री से खीझ उठती रहती है। पर अपने पर काबू पाती हूं। मेरी ओर से घर में सबको नमस्कार कहें। अनुराग को प्यार।

आपकी,
प्रकाशवती पाल

अपनी पुस्तक 'दिव्या का महत्व' मैंने उन्हें ही समर्पित की थी- 'यशपाल की संगिनी, सहकर्मिणी और साथी' लिखकर, जो वे सचमुच थीं। प्रकाशक ने जब उसकी प्रतियां उन्हें भिजवाईं, वे इस हालत में नहीं थीं कि उसे पढ़ सकें और प्राप्ति-सूचना भी दे सकें। बाद में आनंद से ही उसके पहुंचने और प्रकाशवती जी के बिगड़ते हुए स्वास्थ्य की सूचना मिली थी।

बहुत से लेखकों की पत्नियों की तरह मैंने प्रकाशवती को कभी यशपाल की पुस्तकों के बारे में कोई गंभीर चर्चा करते देखा-सुना हो, याद नहीं। उन्होंने कभी इस बात पर भी गर्व नहीं किया कि वे उनकी पहली पाठिका थीं- जो वे सचमुच थीं। यशपाल के निधन के बाद वे प्राय: पच्चीस वर्ष जीवित रहीं, जो निश्चित रूप से एक बड़ा और लंबा समय था। लेकिन उनके संदर्भ में उनकी कोई वैसी भूमिका नहीं थी जैसी रांगेय राघव, भारतभूषण अग्रवाल, देवीशंकर अवस्थी, साही आदि के संदर्भ में उनकी पत्नियों की रही है। यशपाल के संबंध में उन्होंने उतना कुछ भी नहीं किया, जितना राहुल सांस्कृत्यायन के संबंध में कमला सांस्कृत्यायन ने किया या अब धर्मवीर भारती के संदर्भ में पुष्पा भारती कर रही हैं। मैंने कई बार उन्हें उकसाया कि वे यशपाल के संस्मरण लिखें, खासतौर से दल में उनकी क्रांतिकारी गतिविधियों और बाद में, एक लेखक के रूप में, उनके संघर्ष की पृष्ठभूमि पर। शिवरानी देवी की पुस्तक 'प्रेमचंद : घर में' का जिक्र भी उनसे किया। अपनी

संपादित पुस्तक 'क्रांतिकारी यशपाल : एक समर्पित व्यक्तित्व' में यशपाल के क्रांतिकारी रूपांतरण की प्रक्रिया पर मैंने उनसे लिखने को कहा था। उन्होंने लिखा भी। लेकिन वह वैसा नहीं था जैसा मैं चाहता था या जिसके बारे में उनसे विस्तार से बात हुई थी। कई बार इसकी चर्चा भी उनसे पर्याप्त गंभीरतापूर्वक हुई थी कि धीरे-धीरे 'विप्लव' इस लायक नहीं रहता जा रहा है कि उसकी फाइलें हाथ में लेकर उसे पढ़ा जा सके। साठ वर्ष पूर्व न्यूजप्रिंट पर छपे होने से उसके पन्ने टूट जाते हैं। यशपाल की ढेरों महत्वपूर्ण राजनीतिक टिप्पणियां, संपादकियों के रूप में लिखित, आज भी उसकी फाइलों में दबी पड़ी हैं। मीना की अनिच्छा के बावजूद, कुछ समय के लिए वे फाइलें, एक ही सेट होने के कारण जो सचमुच दुर्लभ थीं, अपनी जिम्मेदारी पर प्रकाशवती ने मुझे दी थीं ताकि मैं उन्हें पढ़कर जरूरी हिस्सों को जेरॉक्स करा सकूं। अपने पास आए यशपाल के अनेक शोध-छात्रों से मैंने प्राय: हमेशा ही कहा है कि 'विप्लव' को छोड़कर उन पर कोई सार्थक काम नहीं किया जा सकता। लेकिन उनका लक्ष्य डिग्री के आगे कभी नहीं बढ़ा। प्रकाशवती जी उनके संकलन, संपादन और प्रकाशन की दिशा में काफी कुछ कर सकती थीं। जिसकी बेहद जरूरत थी, लेकिन उन्होंने यह नहीं किया। आज भी यह काम वैसा ही पड़ा है। शुरू में मीना और आनंद का इरादा 'विप्लव' के अंकों की कम से कम पांच सौ प्रतियों का कनाडा में जेरॉक्स कराने का था। लेकिन वह कभी भी पूरा नहीं हुआ। ऐसा भी नहीं है कि प्रकाशवती जी उसके महत्व को समझती नहीं थीं। लेकिन इस ओर कभी वे गंभीर दिखी नहीं- कारण जो भी रहे हों।

वैसे बातचीत में कई बार यशपाल, अपनी रचनाओं के संदर्भ में, उनकी राय का उल्लेख करते थे और उनके इस उल्लेख से लगता था कि वे उसे खासा महत्व भी देते थे। रचना की पठनीयता को, जिसे वे रचना का एक आवश्यक घटक मानते थे, वे प्राय: ही प्रकाशवती की कसौटी पर कसते थे। लिखे जाते और फिर प्रूफ की प्रक्रिया में वे एकाधिक बार उसे पढ़ती ही थीं। शुरू के दिनों में 'झूठा सच' पर बात चलने पर जब मैंने उसके पहले खंड में अंकित जीवन की संवेदना और हार्दिकता की चर्चा की थी, जिसकी तुलना में दूसरा खंड मुझे ढीला, बहसों और ब्यौरों से अधिक बोझिल लगा था, तो अपने बचाव में यशपाल ने प्रकाशवती का ही उल्लेख किया था... ''प्रकाशवती जी को उसका दूसरा खंड ही अधिक पसंद है...'' हो सकता है यह सच हो, लेकिन यशपाल के ऐसे उल्लेखों के बावजूद वे बहुत विश्वसनीय नहीं लगते। यशपाल पर अनेक आलोचनात्मक लेखों और पुस्तकों की जानकारी मैंने ही उन्हें दी थी। प्रकाशित होने पर यशपाल से संबंधित शोध-प्रबंध अलबत्ता उन्हें मिल जाते थे लेकिन पत्रिकाओं में छपे लेखों की जानकारी उन्हें प्राय: नहीं होती थी। जो शोध-प्रबंध लिखे जाते थे उनके लेखक 'विप्लव' और दूसरी मूल-सामग्री की चिंता नहीं करते थे। वे उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही एक नया शोध-प्रबंध तैयार करने की प्रवृत्ति से ग्रस्त थे। लेकिन प्रकाशवती जी प्राय: उनकी संख्या को यशपाल के महत्व से जोड़कर देखती थीं।

कम लोगों को मालूम है कि शुरू में वे लिखती भी थीं। बाद में भी, बच्चन-प्रसंग से क्षुब्ध होकर, 'लाहौर से लखनऊ तक' नामक अपनी संस्मरण-पुस्तक उन्होंने लिखी ही। मैंने कभी उनसे पूछा नहीं, लेकिन मुझे लगता था कि यशपाल के नाम का 'पाल' ही अपने नाम में जोड़कर वे प्रकाशवती पाल बनी थीं। 'विप्लव' से ही उनके और यशपाल के बीच जैसे काम का एक सुस्पष्ट विभाजन हो गया था। शुरू में लेखन और संपादन के साथ यशपाल प्रेस का काम भी देखते थे। आर्थिक संकट के दौर में कुछ और भी छिट-पुट काम उन्होंने किए- मसलन लैंपशेड और पर्स आदि बनाकर थोक में बेचते थे। प्रकाशवती ने शुरू में कभी करांची से दांतों की डाक्टरी का डिप्लोमा भी लिया था। लखनऊ में कुछ समय वह काम भी उन्होंने किया। लेकिन जल्दी ही वे सबकुछ छोड़कर 'विप्लव' की प्रबंध-व्यवस्था, बिक्री और प्रसार में लग गईं। प्रेस और यशपाल की पुस्तकों का प्रकाशन ही उनका मुख्य काम हो गया। धीरे-धीरे यशपाल के लेखन की सारी व्यवस्था जैसे उनके ही जिम्मे हो गई। वैसे बाद में एक बार यशपाल के जेल जाने या फिर अन्य कारणों से 'विप्लव' का संपादन भी उन्होंने अस्थायी रूप से किया। उनके लिखे लेख और संपादकीय आज भी 'विप्लव' की फाइलों में देखे जा सकते हैं। लेकिन वह कभी उनका मुख्य काम नहीं था। उनके इस संघर्ष और क्रांतिकारी जीवन की पृष्ठभूमि को केंद्र में रखकर ही मुक्तिबोध ने कभी इन लोगों पर एक उपन्यास लिखने की इच्छा की थी, जो कभी पूरी नहीं हुई।

यशपाल के साहित्य और प्रकाशन से न केवल जैसे-तैसे गुजारा भर कर लेने बल्कि ढंग से और व्यवस्थित रूप से रहने की प्रेरणा बहुतों ने ली थी। उनके साथ के लेखकों में अश्क और जैनेन्द्र ने उन्हें देखकर ही अपने प्रकाशन शुरू किए। बाद में राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर आदि ने मिलकर अक्षर प्रकाशन की स्थापना की और शुरू में वे काफी सक्रिय भी रहे। यशपाल यदि लेखक के रूप में बहुतों के प्रेरणा-पुरुष थे तो उनके साथ सर्वत्र और सदैव प्रकाशवती भी थीं। प्रकाशवती को छोड़कर जैसे यशपाल के बारे में सोचा ही नहीं गया। यही शायद प्रकाशवती होने का मतलब था। मैंने इस पर उन्हें दुखी होते भी नहीं देखा कि कभी वे लेखिका थीं और पत्रिका, प्रेस और यशपाल की पुस्तकों की व्यवस्था में खपकर सब कुछ छूट गया। अपनी जिस भूमिका को उन्होंने स्वीकार किया, वे उससे पूरी तरह संतुष्ट थीं और उसी को अपना मिशन बनाकर वे जीयीं। इसीलिए उनके जीवन का सबसे बड़ा हादसा साथी प्रेस की बर्बादी और उसके परिणाम स्वरूप विप्लव प्रकाशन का बंद हो जाना था। इतना विचलित मैंने उन्हें न बच्चन वाले प्रसंग में देखा था, न ही यशपाल के निधन के बाद। एक से वे धीरे-धीरे उबर ली थीं और बाद में अपने ढंग से उसका उत्तर भी उन्होंने दिया, और दूसरे के लिए, यशपाल की लंबी और सांघातिक

बीमारी को देखते, शायद उन्होंने मानसिक रूप से अपने को तैयार कर लिया था। लेकिन प्रेस और प्रकाशन के बंद होने से जैसे वे नाकारा और लुंज हो गईं। इस हादसे ने उनकी सारी सक्रियता को जैसे सोख लिया था।

प्रकाशवती लाहौर के एक बहुत सम्पन्न व्यवसायी परिवार से थीं। घर से निकलकर वे क्रांतिकारी दल में शामिल हुई थीं और खूब जानबूझ कर उन्होंने अभावों, कष्टों और जोखिम का रास्ता चुना था। यशपाल की गिरफ्तारी के बाद दल के संचालन की जिम्मेदारी भी उन्हीं की थी। बाद में जब वे स्वयं दिल्ली में गिरफ्तार हुईं तो तत्कालीन अखबारों के लिए यह एक बड़ी सुर्खी थी। उनके फोटो के साथ उनकी गिरफ्तारी की खबर की यह कटिंग बाद में मैं लखनऊ से लेकर आया था, लेकिन फाइलों में कहीं दब जाने से वह फिर मुझे मिली नहीं। दल में अनेक लोगों के विरोध के बावजूद उन्होंने यशपाल से प्रेम किया और बाद में, यशपाल के बरेली सेंट्रल जेल में रहते ही, सन् 1936 में उनका विवाह भी हुआ। यह प्रेम-प्रसंग आगे चलकर बहुतों की प्रेरणा बना। अनेक लेखकों ने प्रेम-विवाह भी किए। सार्त्र और सीमोन द बोऊवार की तर्ज पर हिंदी लेखकों के बीच लिविंग-टूगेदर की अवधारणा भी विकसित हुई। लोगों ने पारिवारिकता को गैरजरूरी और रचनात्मकता में बाधक मानते हुए खूब छूट लेने की कोशिश भी की। यशपाल और प्रकाशवती ने जिस तरह अपने प्रेम को निभाया और जैसी गरिमा एवं जिम्मेदारी के साथ उसे आजीवन बनाए रखा, वैसा कोई दूसरा उदाहरण हिंदी में आज भी दुर्लभ है। प्रकाशवती जी का सबसे बड़ा महत्व यह है कि स्वयं सक्रिय रहकर उन्होंने कई परवर्ती पीढ़ियों को भी सक्रिय रखा। वे उस धातु की बनी थीं, सक्रियता छीजने पर जो आदमी के जीवन को ही बेमानी कर देती है। ऐसा जीवन वे अधिक नहीं जी सकती थीं।

राजनीतिक कट्टरतावाद, सांप्रदायिक उन्माद और बाजारीकरण के इस क्रूर और अमानवीय दौर में उनका हश्र भी वही हुआ जो ध्येय और लक्ष्य के लिए निष्ठापूर्वक समर्पित हर क्षेत्र में लोगों का हो रहा है। उनका निधन कहीं कोई सूचना नहीं बना। वह चुपचाप और सन्नाटे में आई मौत थी। उसकी सूचना दो दिन बाद सुधीर विद्यार्थी ने मुझे फोन पर दी थी। न्यूज और संचार मीडिया के लिए वे एक गैरजरूरी खबर थीं। ब्रिटिश दौर में जब अखबार बहुत कम थे, वे एक बड़ी खबर थीं और आज जब बेहिसाब अखबारों और न्यूज चैनलों की भीड़ है- वे कहीं कोई खबर नहीं बनतीं। उनका इस तरह जाना आज के इस दौर में बड़े रचनात्मक लक्ष्यों के हश्र पर एक तीखी और विचलित कर देने वाली टिप्पणी है। यह और भी विडम्बनापूर्ण इसलिए है कि उसके चंद महीने बाद ही यशपाल जन्म-शताब्दी समारोह शुरू होने को थे। धीरे-धीरे ऐसे लोगों की संख्या भी कम होती गई है जो यह जानते थे कि यशपाल के निर्माण और विकास में प्रकाशवती की वास्तविक भूमिका क्या और कैसी थी। ❑

सह-चिंतन

चमनलाल

भगतसिंह विचारधारा के विशेषज्ञ एवं प्रखर चिंतक द्वारा आज के सांस्कृतिक संकट और वामपंथी लेखक-संगठनों की एकता पर विचार

वामपंथी सांस्कृतिक एकता ही एकमात्र विकल्प

मानवीय संस्कृति के निर्माण के रास्ते में कुछ प्रमुख बाधाएं हैं, जिनका सामना तमाम संस्कृतिकर्मियों को करना है। हमारी मानवीय संस्कृति की अवधारणा क्या है, क्या यह मार्क्सवादी या प्रगतिवादी विचारों पर ही आधारित है या केवल भौतिकवादी दर्शन पर आधारित है? भौतिकवादी दर्शन के दोनों रूप हमारे सामने हैं, अपने द्वंद्वात्मक रूप में मार्क्सवाद के रूप में इस दर्शन ने हमें आज तक की सर्वाधिक मानवीय व्यवस्था का एक व्यावहारिक सपना दिया, इस सपने को सच होता भी दिखाया। लेकिन यांत्रिक भौतिकवाद की परिणति हम चरम उपभोक्तावाद, सर्वग्राही अमानवीय स्वार्थ के रूप में भी देख रहे हैं, जिसने तमाम मानवीय मूल्यों को नष्ट कर दिया है। दूसरी ओर आधिभौतिकवाद के दोनों रूप भी हम देख चुके या देख रहे हैं। आधिभौतिकवाद की चरम नकारात्मक प्रवृति धार्मिक कठमुल्लापन व सांप्रदायिकता सर्वाधिक मानव-विरोधी हत्यारे के रूप में हमारे सामने है। जाति-पांति का समाज-तोड़क रूप भी सामने है।

संस्कृतिकर्मियों, विशेषत: साहित्यकारों के सामने यह गंभीर दायित्व है कि वे अपने लेखन व अन्य माध्यमों से मानव को मानव की तरह जीने की प्रेरणा दें। यहां तक कि मूल मानवीय संबंधों- बच्चों, मां-बाप, पति-पत्नी मित्रों आदि संबंधों में आस्था जगाने व दृढ़ करने का प्रयत्न करें और इससे आगे बढ़कर उन्हें व्यापक मानवीय समाज से जुड़ने की प्रेरणा दें। केवल अपने स्वार्थों के लिए जीने को नकारात्मक नैतिक गिरावट के रूप में दिखाएं। वस्तु से मानव कहीं श्रेष्ठ है, इसे बार-बार उद्घोषित करें। परम उपभोक्तावादी प्रवृत्ति को पतनशील प्रवृत्ति के रूप में रेखांकित कर व्यापक मानवीय सरोकारों-अपने सहपाठियों, साथियों व समाज के दु:ख-सुख में शरीक होने की 'पुरानी' बातों को फिर से सामने लाएं।

यहीं से आगे बढ़कर भारतीय समाज में घातक कैंसर की तरह फैल रही सांप्रदायिकता की भावना पर प्रहार करना जरूरी है। समाज में फासिस्ट प्रवृत्तियों वाले राजनीतिक दल इस तरह की प्रवृत्तियों को अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए बढ़ावा दे रहे हैं। हजारों-लाखों सामान्य जन की बलि देकर राजनीति सत्ता का सुख पाना उनके जीवन का परम लक्ष्य है। धर्म, संप्रदायवाद और जातिवाद की आड़ में यह भी उनकी परम उपभोक्तावादी प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति का असल चेहरा उघाड़ना बेहद-बेहद जरूरी है।

चरम उपभोक्तावाद के रूप में विचारशून्यता व सांप्रदायिकता के रूप में मानव समाज व मानवीय मूल्यों को नष्ट कर फासिस्ट सत्ता व जीवन तंत्र स्थापित करने की नकारात्मक प्रवृत्तियां तो प्राय: सभी उदार व प्रगतिशील लेखकों/संस्कृतिकर्मियों के सामने स्पष्ट हैं, किन्तु रूस व पूर्वी यूरोप में समाजवाद के विखंडन व मार्क्सवाद पर हो रहे विश्वव्यापी प्रहारों ने संगठनात्मक व विचारधारात्मक स्तर पर इन संस्कृतिकर्मियों /लेखकों के लिए एक बड़ा संकट उपस्थिति किया है। नकारात्मक प्रवृत्तियां स्पष्ट दिखाई देने पर भी सकारात्मक जीवन मूल्यों के लिए संघर्ष करने की उनकी शक्ति पर कुठाराघात किया है। ऐसे लेखक प्रगतिशील लेखक संघ में हों या जनवादी लेखक संघ में या जन संस्कृति मंच में या किसी अन्य संगठन में या केवल व्यक्ति स्तर पर संस्कृति कर्म से जुडे हों, वे या तो दिग्भ्रमित हैं या अभी भी सांगठनिक संकीर्णता का शिकार हैं या फिर निष्क्रियता के रूप में पराजय स्वीकार कर रहे हैं। उनके सामने कुछ प्रश्न मूर्त हैं व कुछ अमूर्त स्थितियां उन्हें परेशान किए हुए हैं।

क्या मार्क्सवाद/समाजवाद विरोध की आंधी में वे प्रगतिशीलता, प्रगतिवाद, जनवाद आदि धाराएं छोड़ दें व कोई अन्य अधिक स्वीकार्य धारणाएं अपना लें जैसा अनेक देशों के भूतपूर्व 'कम्युनिस्ट' कर रहे हैं या पूरी स्थिति का आलोचनात्मक जायजा लें व अपने विचारों को ऐतिहासिक कसौटी पर कसते हुए उन्हें अधिक सृजनात्मक रूप से लागू करें। सबसे पहले स्वयं को ही संबोधित हुआ जा सकता है। यदि यह मान भी लिया जाए कि समाजवाद, मार्क्सवाद के नाम पर अनेक देशों में तरह-तरह की आमानवीय/मार्क्सवाद विरोधी बातें हुई हैं, वहां लोकतंत्रीय भावनाओं का भी उल्लंघन हुआ है, तो क्या जो आज 'लोकतंत्र' के मसीहा बने हुए हैं, वे मार्क्सवादी, समाजवादी, प्रगतिशील विचारों से मानवीय, अधिक लोकतांत्रिक, अधिक न्यायपूर्ण हैं? यह प्रश्न मार्क्सवाद/समाजवाद के विरोधियों से भी किया जा सकता है, जो आज अत्यधिक मुखर हैं।

इसमें जरा भी संदेह नहीं कि ऐतिहासिक रूप में आज

भी यही चिंतन/दर्शन सर्वाधिक तर्कपूर्ण व मानवीय दर्शन है, इसलिए अपने भीतर के चिंतन के प्रति आस्था को तमाम आंधियों के सामने भी सुदृढ़ बनाया जाना जरुरी है। दूसरे 'लोकतंत्र' के 'मसीहाओं' के पास भी ऐसा कोई दर्शन नहीं है, जिसे वे मार्क्सवाद/समाजवाद से अधिक तार्किक व मानवीय दिखा सकें। अत: तमाम आक्रामकता के बावजूद उनका खोखलापन पहचाना जा सकता है व अपनी सैद्धांतिक दृढ़ता और पकाई जा सकती है।

फ्री-मार्केट (मुक्त बाजार) व मानव के मानव द्वारा शोषण पर आधारित लोकतंत्र की बजाय स्त्री-पुरुष की सच्ची मानव समता, तमाम धर्मों-जातियों-राष्ट्रीयताओं के बीच समानता, श्रम के उचित फल पर आधारित 'लोकतंत्र' के प्रचार-प्रसार पर जोर देना जरूरी है। इसके लिए समाज के वैज्ञानिक चिंतन/तार्किक सोच उदारचित धर्म निरपेक्षता के बीच एकता पर बल दिया जाना भी अनिवार्य है। सांगठनिक एकता यदि एकदम से हासिल न भी हो पाए तो अलग संगठनों में रहते हुए भी एकजुट होने की जरुरत है।

मानवीय संस्कृति के निर्माताओं के सामने एक गंभीर समस्या की ओर ध्यान देना जरूरी है। क्या हम भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त, नागार्जुन या पाश के रचनात्मक व्यक्तित्व से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि फलां लेखक सी.पी.आई. का है या फलां सी.पी.एम. का या फलां नक्सलवादी? क्या हम इन सभी के साहित्य को समान रूप से पढ़ते व उसकी सराहना नहीं करते हैं? क्या किसी भी कम्युनिस्ट और गैर कम्युनिस्ट पार्टी या गुट से बिना जुड़े लेखकों- अमृतलाल नागर, फणीश्वरनाथ रेणु या गुरदयाल सिंह के साहित्य को उत्तम मानवतावादी साहित्य नहीं मानते? जब तमाम तरह के फासिस्ट विचारधारा के लोग 'तमस' जैसी रचनाओं पर चोट करते हैं, तो क्या हम अपनी ढपली अलग बजाते हुए भी उस रचना के पक्ष में उठ खड़े नहीं होते?

बढ़ते हुए फासिस्ट संकट के सामने संकीर्णता छोड़ कर सामाजिक वास्तविकताओं को स्वीकार करना व उनका खुले दिल-दिमाग से सामना करना अत्यावश्यक है, वर्ना तमाम तरह के मानवीय मूल्य नष्ट होंगे व हम सब एक-एक कर नष्ट कर दिए जाएंगे। रूस व पूर्वी यूरोप की घटनाओं के संदर्भ में भी आलोचनात्मक व आत्मालोचनात्मक रवैया अपनाया जाना बेहद जरूरी है। मार्क्सवाद/ समाजवाद निर्माण के नाम पर हुई ज्यादतियों या लोकतांत्रिक भावनाओं के हनन की ईमानदारी से सबसे पहले हमें ही निंदा करनी चाहिए, लेकिन हमारी आलोचना तथाकथित 'लोकतंत्र' के मसीहाओं की तरह ध्वंसात्मक न होकर सकारात्मक व रचनात्मक होगी, ताकि इन धब्बों को साफ कर हमारे विचारों की उजली चादर फिर उसी चमक के साथ तमाम मेहनतकश, ईमानदार व सच्चे लोगों को अपनी ओर आकर्षित करे। जो चादर को ओढ़े उसे शर्म का नहीं, गर्व का एहसास हो। यह कठिन जरूर है, लेकिन असंभव नहीं। इतिहास के चक्र को कई बार विपरीत परिस्थितियों में कुछ शक्तियां उल्टा घुमाने में सफल हो सकती हैं, उनकी
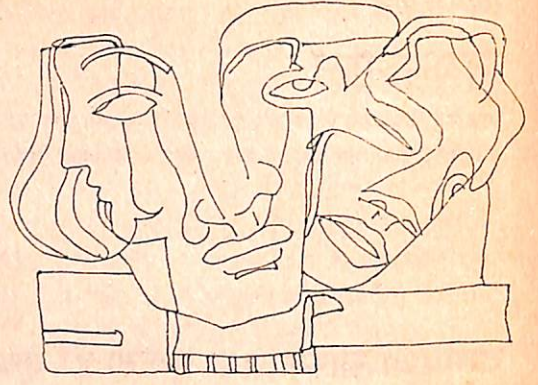
यह सफलता अल्पकालिक है। इतिहास का चक्र इन विपरीत परिस्थितियों के उल्टे घुमाव को फिर से उलट कर दुगुनी गति से आगे की ओर अग्रसर होगा। यह आस्था भ्रामक व स्वप्नमयी नहीं, एक ठोस व तार्किक सच्चाई है। यदि इतिहास की अग्रगामी शक्तियां गाफिल होंगी तो विश्व विनाश की ओर भी बढ़ सकता है। पूरी सभ्यता व संस्कृति इस समय ऐसे दोराहे पर खड़ी है, जहां पर इतिहास व मानव विरोधी व मानव पक्षधर शक्तियों के बीच भयंकर टकराव है। मानव पक्षधर शक्तियों की तात्कालिक पराजय अवश्य हुई है, किंतु यह एक मोर्चे की पराजय है, संपूर्ण युद्ध में हार नहीं हुई है। अपनी बिखरी शक्तियों को एकजुट कर समझदारी से आगे बढ़ते हुए इस पराजय को निणार्यक विजय में बदला जा सकता है। किंतु विजय या पराजय इस युद्ध के नियामकों अर्थात् मानवों पर ही निर्भर है। मनवीय संस्कृति के तमाम निर्माता भी इस निर्णायक युद्ध के भागीदार हैं व पराजय बोध से इस समय वे पस्त भी हैं। किंतु ऐतिहासिक समझदारी से वे शक्ति-संतुलन बदल सकते हैं व पराजय को निर्णायक विजय में बदल सकते हैं बशर्ते कि उनमें ऐतिहासिक समझदारी, दूरदृष्टि, साहस व धैर्य पर्याप्त मात्रा में हो और वे तमाम मानवीय मूल्यों की पक्षधर शक्तियों को एकजुट कर सकें।

मानवीय संस्कृति के निर्माण के क्षेत्र में हम निम्नांकित मुद्दों पर ध्यान केंद्रित कर सकते हैं-

1. अपने लेखन तथा अन्य सांस्कृतिक कर्मों के जरिए मानव वस्तु पर सत्ता की पुन:स्थापना करने का महती कार्य हाथ में लें। लेखन के क्षेत्र में इस विषय की अपरिमित संभावनाएं हैं। भौतिकवाद, वैज्ञानिक चिंतन तथा तार्किक सोच के सकारात्मक पक्षों को उघाड़ते हुए, भौतिकवाद के नकारात्मक पक्ष चरम उपभोक्तावाद का खंडन निहायत जरूरी है, विशेषत: मध्य वर्ग के लिए।

2. तमाम तरह के मानव विरोधी विचारों-धार्मिक कठमुल्लापन, सांप्रदायिकता व जाति आधारित उत्पीड़न, स्त्री उत्पीड़न का सशक्त विरोध अपनी रचनाओं द्वारा कर धार्मिक सहिष्णुता, सांप्रदायिक सद्भाव की दृष्टि उभारी जानी चाहिए।

3. सांगठनिक स्तर पर पार्टी प्रतिबद्धता से अधिक

वैचारिक साम्य पर बल देते हुए स्वस्थ व उदार मानवीय मूल्यों पर आधारित तमाम लेखकों/संस्कृतिकर्मियों के साझे संगठन बनाए जाने चाहिए। संगठनों का आधार एकमात्र मार्क्सवादी चिंतन नहीं, वरन मार्क्सवादी व अन्य उदारवादी विचारों को बनाया जाना चाहिए व संगठन के कार्य-कलापों में गुटवाद स्थापित न कर वास्तविक लोकतांत्रिक तरीके अपनाए जाने चाहिए। किसी पक्ष की पसंद के निर्णय यदि लोकतांत्रिक तरीके से नहीं होते तो संगठन को कमजोर न कर निर्णयों को स्वेच्छा से मानना चाहिए।

4. जो संगठन इस समय हैं, उन्हें भी न्यूनतम वैचारिक साम्य के आधार पर एक संगठन में समाहित किया जाना चाहिए व जब तक यह व्यवहारिक नहीं हो जाता, इन संगठनों के बीच कार्यक्रम के आधार पर एक मंच बनाया जाना चाहिए व इन्हें एकजुट हो संयुक्त कार्रवाई करनी चाहिए।

5. सबसे बड़ी बात यह है कि अपनी भावनाओं, अपने व्यवहार में समान धर्म, समान विचारों वाले लेखकों/संस्कृतकर्मियों में परस्पर प्रेम, सौहार्द्र व आदर का भाव हो, जो अपनी पार्टी की प्रतिबद्धताओं से ऊपर होना चाहिए। यदि हम तमाम संगठनों के लोग बाबा नागार्जुन को समान रूप से प्यार कर सकते व उनका आदर कर सकते हैं तो सी.पी.आई., सी.पी. एम. या विभिन्न नक्सल गुटों से जुड़े लेखक/संस्कृतिकर्मी परस्पर प्यार, सौहार्द्र, आदर व ईमानदार विचार विनियम का व्यवहार क्यों नहीं विकसित कर सकते? संकीर्णता इस समय हमारी बहुत बड़ी दुश्मन है। पंजाब में पाश मेमोरियल ट्रस्ट ने पाश स्मृति पुरस्कार क्रमशः प्यारा सिंह सहराई व संतोष सिंह धीर को देकर संकीर्णता से ऊपर रहने का स्वस्थ प्रमाण दिया है। जहां संकट अधिक गंभीर हैं, वहीं एकता व एकजुटता की जरूरत भी सर्वाधिक महसूस होती है। पंजाब में सुमीत सिंह, पाश, रवींद्र, रवि, सुखदेव प्रीत आदि सभी तरह के प्रगतिशील संस्कृतिकर्मी गोलियों का शिकार हुए हैं। इसलिए वहां एकता की जरूरत भी सर्वाधिक महसूस हो रही है।

यह सही है कि पारंपरिक अर्थों में मार्क्सवादी विचारों पर अधिकतर कम्युनिस्ट पार्टियां अपने क्षेत्र के मजदूरों, किसानों, संस्कृतिकर्मियों की रहबर होती हैं व संस्कृतिकर्मी दिशा के लिए उनकी ओर देखते हैं, किंतु इतिहास में कई ऐसे अवसर भी आते हैं, जब संस्कृतिकर्मियों, बौद्धिकों, विचारवानों को पार्टी से आगे जाकर अग्रणी भूमिका निभानी होती है। इस समय संस्कृतकर्मियों/ बुद्धिजीवियों को पार्टी निष्ठाओं से आगे जाकर मानवीय संस्कृति के प्रति अपनी निष्ठा समान विचारों के लोगों से एकजुट होकर निभानी है। शायद इससे वे इन बिखरी कम्युनिस्ट पार्टियों व गुटों के बीच एकता का मार्ग भी प्रशस्त कर सकें। पार्टियों के बीच फिलहाल एकता हो या नहीं संस्कृतिकर्मियों में उदार मानवीय विचारों पर आधारित एकता अत्यावश्क है, क्योंकि अलग संगठन में रहकर भी वे वही काम कर रहे हैं, जो उन्हें एकजुट होकर करना है। तो वे एकजुट हो अपनी शक्ति क्यों न बढाएं और अपनी फूट से निराश लोगों को एकजुट होकर क्यों न साथ लें? प्रेमचंद के 'साहित्य का उद्देश्य' भाषण को आधार बनाकर तमाम लेखकों/संस्कृतिकर्मियों को एक सूत्र में बंधकर उदार मानवीय मूल्यों पर आधारित सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा करने व उन्हें विकसित कर समाज में सर्वोच्च स्थान दिलाने के प्रयास पूरे दिलो-जान से शुरू कर देने चाहिए। समय कम है , खतरा अधिक है। यदि फासिस्ट शक्तियों व मूल्यों से मानवीय संस्कृति को विनाश से बचाना है और उसे ऐतिहासिक विकास की ओर अग्रसर करना है तो संस्कृतिकर्मियों को प्रेमचंद के आह्वान पर ध्यान देकर जागना होगा, क्योंकि अब और सोना व बिखरे रहना निश्चित ही विनाश की ओर बढ़ना होगा। क्या हम संस्कृतकर्मी विनाश से बच पाएंगे, मानवीय संस्कृति के निर्माण के पथ पर आगे कदम बढ़ा पाएंगे? इसका उत्तर किसी और को नहीं, हम संस्कृतिकर्मियों को ही देना है और बहुत जल्द देना है। समय की यह गंभीर चुनौती है, इसे स्वीकारना या इससे मुंह चुराना, इसका चुनाव भी हमें ही करना है। □

- 'कतार' से साभार

कांतिकुमार जैन

संस्मरण को नयी ऊर्जा और गरिमा प्रदान करने वाले
बहुचर्चित लेखक द्वारा संस्मरण लेखन के घरानों की जातीय परख

संस्मरण लेखन के घराने

हिंदी में संस्मरण लेखन के दो घराने हैं। सुविधा के लिए आप इन्हें संस्मरणों का जाट घराना और तेली घराना कह सकते हैं। ये घराने कल्पित नहीं हैं, हमारी लोक संस्कृति द्वारा मान्य हैं। एक गांव में एक जाट था और एक तेली था। दोनों प्रकृत्या भिन्न थे। जाट जाट था, बेलिहाज, बेमुरव्वत, दो टूक। उसे लाग-लपेट की आदत नहीं थी। तेली, तेली था। चिकनी, चुपड़ी, मुंह देखी बात कहने वाला। जिस किसी से मिलता, तेल लगाने लगता। बातों से स्नेह का झरना फूटता। इन भिन्न प्रकृति वाले, वृत्तियों वाले पड़ोसियों में आये दिन तकरार होती रहती। एक दिन किसी बात को लेकर दोनों में कहा-सुनी हो गयी। दोनों अपनी अपनी जात पर उतर आये। गुस्से में भी तेली अपनी कलावादिता, शालीनता, औपचारिकता नहीं भूला। उसने जाट को कोसा, कहा- 'जाट रे जाट, तेरे सिर पर खाट।' जाट ने सुना तो भन्ना गया। बिना सोचे-समझे, बिना तुक-तान का ख्याल किये बोला- 'तेली रे तेली, तेरे सिर पर कोल्हू।' तेली को यह उम्मीद नहीं थी। वह अपनी शालीनता भूला नहीं था। उसे जाट से भी ऐसी ही शालीनता की अपेक्षा थी। बोला- 'तुक नहीं मिली।'

जाट बोला- 'तुक मिले न मिले, कोल्हू के बोझ से दबेगा तो जरूर।' तेली जाट की बात पर हंसता रहा, तमाम लोगों से कहता फिरा- 'लो, जाट को तो तुक मिलाना ही नहीं आता।'

बहुत हो गया तो जाट ने कहा- 'मैं चाहता तो कह सकता था - तेली रे तेली, तेरी पगड़ी मैली। पर मैं तो तेली पर चोट करना चाहता था। उसकी चतुर हरकतों की पोल खोलना चाहता था।'

अब हिंदी में जाट घराने के संस्मरणकार भी हैं और तेली घराने के भी। तेली घराने के संस्मरण लेखक संस्मृत के गुणों- केवल गुणों- का बखान करते हैं, उस पर श्रद्धा सुमन चढ़ाते हैं, उसकी आरती उतारते हैं। उन्हें उसके ऐब नहीं दिखते। दिखते भी हैं तो कहने की हिम्मत नहीं करते। धंधे की बात। शालीनता का तकाजा, व्यावहारिकता की अनिवार्यता। वे 'हमारे आराध्य' लिखते हैं, 'मेरे संस्मरण' लिखते हैं, 'जो मैंने जिया' लिखते हैं, 'समय और संभावना' लिखते हैं। जाट घराने का लेखक प्रतिमा का सिंदूर खरोंचता है, उसे मंच से उतारकर सामान्य जन की तरह गली-कूचों में देखता है, उन्हें बिना गेंड़ी के जमीन पर खड़ा करता है, बिना मेकअप के आईना दिखाता है। कौन ऐसा है जिसमें दुर्बलताएं नहीं, कौन ऐसा है जो पूरा आदमकद हो, कौन ऐसा है जो बचपन में बिना कपड़ों के न घूमा हो और जिसने पुनतरिया गीली न की हो। वास्तव में हमारे काव्य-शास्त्र में इस बात का विधान है कि देव विषयक रति भाव का साधारणीकरण नहीं होता और गुरुजन के दोष नहीं देखे जाते। यह विधान बदला जाना चाहिए। आखिर यह भी तो संस्कृत का ही सुभाषित है कि 'दोषा वाच्या गुरोरपि गुणाः वाच्या शत्रुरपि।' संस्मरणों में केवल दूसरों के चरण नहीं पलोटने चाहिए, उनके पैरों की बिवाई भी देखनी और दिखायी जानी चाहिए। 'जय जगदीश हरे' के वजन पर संस्मृत की आरती ही नहीं उतारनी चाहिए, जगदीश की असफलताओं का भी बखान करना चाहिए। यदि एक संस्मृत सम्माननीय है तो कोई संस्मृत अपमाननीय भी तो हो सकता है? संस्मरण में मीठा-मीठा गप और कड़ुआ-कड़ुआ थू नहीं होना चाहिए। कड़ुआ भी उतना ही सुस्वादु और लाभप्रद होता है, जितना मीठा। कई बार कड़ुआ ज्यादा लाभप्रद होता है। यदि कोई संस्मृत की पोल खोलना चाहता है, उसका मुखौटा उतारना चाहता है, उसके बालों की बिना डाई वाली रंगत देखना चाहता है तो वह जाट स्कूल का संस्मरण लेखक होता है।

संस्मरण विधा हिंदी गद्य की नयी विधाओं में से एक है। बीसवीं शताब्दी में यूरोप में अनेकानेक सामाजिक, सांस्कृतिक और औद्योगिक कारणों से जीवन-स्थितियों और सांस्कृतिक मूल्यों में इतना परिवर्तन हुआ कि मनुष्य के सामान्य जीवन की गति और उसके आदर्श पूरी तरह बदल गये। साहित्य की परंपरागत विधाएं इस नयी गत्यात्मकता और परिवर्तनशीलता का चित्रण और आकलन करने में अपर्याप्त और असफल सिद्ध होने लगीं। अतः महाकाव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, प्रगीत आदि स्थापित एवं सुपरिचित विधाओं के अतिरिक्त साहित्यकारों को ऐसी विधाओं की तलाश करनी पड़ी, जो खंड-खंड हुए जीवनादर्शों और जीवन स्थितियों को प्रतिबिंबित कर सकें। संस्मरण, यात्रा विवरण, रिपोर्ताज, रेखाचित्र, डायरी, आत्मकथा, जीवनी जैसी विधाएं इसी तलाश का परिणाम थीं। दर्पण जब जमीन पर गिरकर टुकड़े-टुकड़े हुए दृश्यों को अंकित करने का उपक्रम करते हैं- प्रकीर्ण, अपूर्ण, स्फुट, व्यक्ति सापेक्ष और विवादास्पद।

संस्मरणों में दृश्य जितना महत्वपूर्ण होता है, उतना ही या उससे ज्यादा दृष्टा की आंखों का कोण, दृष्टा के हाथ में आया दर्पण का टुकड़ा, दृष्टा की आंखों की रोशनी और दृष्टा के पास उपलब्ध दृश्य को देखने का समय भी। संस्मरण एक अंतर्क्रियात्मक विधा है- वस्तु और व्यक्ति का, आब्जेक्ट और सब्जेक्ट के द्वैत के घात-प्रतिघातों का जितना महत्व इस विधा में है, उतना साहित्य की किसी अन्य विधा में नहीं। जब तक दूसरा नहीं है, तब तक पहला भी नहीं हो सकता। पहले का महत्व दूसरे पर निर्भर है।

संस्मरणों का इतिहास हिंदी में बहुत पुराना नहीं है। गद्य का ही इतिहास हिंदी में भारतेंदु युग से प्रारंभ होता है। क्रमागत और अखंड रूप से। भारतेंदु युग में संस्मरण नहीं लिखे गये। हिंदी में जब गद्य प्रतिष्ठित हो गया और गद्य की परंपरागत विधाओं जैसे नाटक, कहानी, उपन्यास का सिलसिला चल निकला तो इन विधाओं के पूरक रूप में जो अन्य विधाएं आयीं, संस्मरण उन्हीं में से एक थी। हिंदी में संस्मरणों का प्रारंभ साहित्यकारों से नहीं, पत्रकारों से हुआ। बनारसीदास चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', माखनलाल चतुर्वेदी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' जैसे पत्रकार ही हिंदी के प्रारंभिक संस्मरण लेखक हैं। इन सभी के संस्मरण अत्यंत लोकप्रिय हुए क्योंकि ये संस्मरण भारतीय राजनीति के शिखर पुरुषों और जन नेताओं के अनौपचारिक, आत्मीय और अंतरंग प्रसंगों और घटनाओं का उल्लेख करते थे। पत्रकार चूंकि दृश्य को देखकर ही अपनी रिपोर्टिंग करता है, वह दृश्य के निकट माना जाता है, अतः पाठकों के लिए वह प्रामाणिक और विश्वसनीय होता है। एक निकटता, एक अंतरंगता, अंतर्लोक का आंखों देखा हाल, श्रद्धेय की सामान्यता, मंच पर खड़े हुए नेता से निकटता का बोध इन संस्मरणों को साहित्यिक पत्रकारिता का दर्जा देता है। आधा इतिहास, आधी जीवनी। पाठक के लिए चश्मदीद गवाही। संस्मरण आप उसी का लिख सकते हैं, जिसको आप जानते हैं यानी संस्मरणों में तुम और मैं का ताना-बाना होता ही है। जैसे बिना ताने के बाने का अस्तित्व असंभव है, वैसे ही बिना मैं रूपी संस्मरणकार के आप, तुम या तू का स्मरण संभव नहीं है। बस, इस मैं और आप के छायातप में देखना यह होता है कि कहीं 'मैं' आत्ममुग्ध तो नहीं है, कहीं वह 'आप' की गेंडी पर चढ़कर स्वयं को ऊंचा तो नहीं बना रहा है, कहीं वह कैमरे के पीछे से चतुराई से उसकी बगल से झांकने की चेष्टा तो नहीं कर रहा, जिसका चित्र वह खींचना चाहता है। इसी अन्तर्क्रियात्मकता के कारण संस्मरण एक कठिन विधा है, कठिन और विवादास्पद! विवादास्पद और खतरनाक भी।

जो विधा जितनी अधिक व्यक्तिपरक होगी, वह उतनी ही अधिक चर्चित और विवादास्पद भी होगी। आत्मकथाएं इसीलिए प्रायः चर्चा में रहती हैं और इसीलिए उनको लेकर विवाद होते रहते हैं। संचार माध्यमों द्वारा प्रक्षिप्त छवि के बरक्स वास्तविक छवि जो कभी-कभी समाज में मान्य छवि से मेल नहीं खाती या जो सामाजिक मान-मर्यादाओं की लक्ष्मण-रेखा के पार चली जाती है, आत्मकथाओं के लेखक से एक ईमानदारी की, एक स्पष्टवादिता की, एक पारदर्शिता की मांग करती है। इसीलिए जार्ज बर्नार्ड शॉ जैसे लोग तो यहां तक कहने से नहीं चूकते कि सच्ची आत्मकथा तब तक नहीं लिखी जा सकती, जब तक आप सामने खुदे हुए गढ्डे में अपने दोनों पैर लटका कर न बैठ जायें और पीछे खड़े हुए लोग आपको उस गढ्डे में ढकेल न दें। कौन है ऐसा जो अपने जीवनकाल में, अपने ही मुंह से अपने बारे में पूरा का पूरा सच कह सकता है? जो बात आत्मकथा के बारे में सच है, लगभग वही संस्मरण के बारे में भी क्योंकि संस्मरण भी एक प्रकार से आत्मकथा ही है – परकथा के सहारे कही गयी आत्मकथा। कुछ पर बीती, कुछ आप बीती।

पत्रकारों द्वारा प्रस्तुत संस्मरण इतने समादृत और रोचक सिद्ध हुए कि हिंदी के अनेक साहित्यकारों ने इस विधा को स्वायत्त कर लिया। नेताओं और आराध्यों को छोड़कर ये साहित्यकार सामान्य जन को ही नहीं, पशु-पक्षियों और वनस्पतियों को भी अपने संस्मरणों में केन्द्रीय स्थान देने लगे। महादेवी वर्मा, भदंत आनंद कौसल्यायन, देवेंद्र सत्यार्थी, पद्मसिंह शर्मा, क्षेमचंद्र 'सुमन', सियारामशरण गुप्त, बच्चन, यशपाल जैसे साहित्यकार जब अपने विविध वर्णी संस्मरणों को लेकर साहित्य के क्षेत्र में आये तो संस्मरण विधा को नयी भाषा, नये तेवर और नयी कलात्मक समृद्धि प्राप्त हुई। वे नवीन जीवन संवेदना से भी संपन्न हुए। 1940 तक आते-आते संस्मरण हिंदी गद्य की एक प्रतिष्ठित विधा हो गयी।

किंतु संस्मरण लेखन को नयी चमक और स्फूर्ति मिली

स्वतंत्रता के बाद। भारतीय विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न मानवीय त्रासदी ने जीवन के आदमकद रूप को ही नहीं तोड़ा, साहित्य के परंपरागत ढांचे को भी तोड़ दिया- कथ्य में भी और कथन भंगिमा में भी। नयी कविता हो, नयी कहानी हो या नये नाटक हों- अब सब उन जीवन स्थितियों का बखान करने में संलग्न हुए जो फैज के शब्दों में 'दाग दाग उजाला' में दिखायी दे रही थीं- कुछ मटमैली, कुछ कुहरिल कुछ बेचैन, कुछ भटकी हुई। पश्चिम में फ्रायड, एडलर और जुंग ने अचेतन का जो रहस्य लोक खोज निकाला था, उसने जीवन के सामाजिक और वैयक्तिक क्रिया-कलाप को नये अर्थों में जानने और समझने का पथ प्रशस्त किया। अब अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष मनुष्य के काम्य पुरुषार्थ नहीं रह गये, मनुष्य की अदम्य ग्रंथियों के व्याख्यान बन गये। संस्मरण अब प्रशस्ति-पत्र नहीं रह गये, न ही अभिनंदन-पत्र। श्रीफल, पुष्पमाला और शाल-दुशालों को भी उन्होंने हाशिये पर डाल दिया। अब संस्मरण अभिभूत होकर नहीं लिखे जाते, वे संस्मृत के अंतरंग में झांक कर लिखे जाते हैं। इन लेखकों ने देखा कि जीवन वही नहीं है जो सतह पर दिखायी दे रहा है या जो बैठकखाने में विराजमान है। कृशन चन्दर, मोहन राकेश, उपेंद्रनाथ 'अश्क', बेचन शर्मा 'उग्र', मंटो या इस्मत चुगताई जैसों ने जब अपने भीतर की बातें बतानी शुरू कीं तो नैतिकतावादियों को उनके कथ्य पर आपत्ति हुई, काव्यशास्त्रियों को उनकी संरचना पर और समीक्षकों को उनकी भाषा पर। ये संस्मरण लेखक अपने आपको ढांकने में नहीं, अपने आपको (और सामने वाले को भी) खोलने में विश्वास करते थे। जब अपने आपको नहीं छिपाना तो सामने वाले को क्या छिपाना। जब बच्चन जी ने लिखा 'जो छुपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता' तो वे एक तरह से इन नये संस्मरण लेखकों द्वारा उपलब्ध सत्य का ही प्रकटीकरण कर रहे थे। स्वतंत्रता के कुछ ही वर्षों में नेताओं के चेहरों पर लगा रंग और रोगन धुल गया, चौराहों पर लगे उनके पोस्टरों को दाद-खाज-खुजली के विज्ञापनों ने ढांक दिया और कुर्सी दौड़ में जो धक्कम-धक्का शुरू हुआ, उससे स्पष्ट हो गया कि ठीक आदमकद कोई नहीं है, हो तो भी नहीं है। संस्मरण किसी का धोबी नहीं है। फलत: साहित्य की अन्य विधाओं की तरह संस्मरणों के धोबीघाट पर बहुत 'हैया हो' मची और संस्मरण घाट पर मैले कपड़ों की लादियों का ढेर बढ़ने लगा। हिंदी का समकालीन संस्मरण लेखक अब संस्मरणों को न तो निरमा सुपर मानता है, न सर्फ एक्सेल। संस्मरणों की वाशिंग मशीन से निकलने वाले कपड़ों की मंहा सफेदी अब उसका लक्ष्य नहीं है, वह जानना चाहता है कि कपड़ों में मैल कहां से आता है, उनमें गंदगी क्यों लगती है, सफेद कालर ग्रीवा से रगड़ खाकर कैसे मटमैली हो जाती है और साड़ियों के फॉल धूल-मिट्टी से, ग्रीस-डीजल से काले क्यों पड़ जाते हैं? अब वह वाशिंग मशीन से धुले हुए कपड़ों को निकालकर उस पानी का भी मुआयना करता है, जो वाश टब में बचा रहता है, यह बताने के लिए कि धुले धुलाये कपड़े मैल और गंदगी की कितनी मात्रा सोख लेते हैं।

हरिशंकर परसाईं, शरद जोशी, राजेंद्र यादव, मनमोहन ठाकोर, मनोहर श्याम जोशी, काशीनाथ सिंह, रवींद्र कालिया, हरिपाल त्यागी जैसे संस्मरण लेखक न कुछ छिपाते हैं, न कुछ ढांकते हैं। ये संस्मरण लेखक केवल देवताओं, महामानवों, स्थापितों, सिद्धों की ही याद नहीं करते, उनकी भी याद करते हैं, जो सवेरे-सवेरे कड़कड़ाती ठंड में अखबार बांट रहे हैं, दिन भर मूंगफली बेच रहे हैं, पान की गुमटी पर बीड़े बांध रहे हैं, ढाबे में कप-प्लेटें धो रहे हैं या गुरु जी की एवजी में बच्चों को पढ़ा रहे हैं। इन संस्मरण लेखकों ने संस्मरणीयों की परिधि बढ़ायी है, मानवीय संवेदना का विकास किया है और जीवन के उन कोनों तक भी पहुंचे हैं, जो हताश, बेचारा और दईमारा है। जीवन के मटमैले छींटे इनके वर्ण्य पर नहीं, इनकी भाषा पर भी पड़े हैं। ये अपने संस्मरणों में अपने साथ, अपने संस्मृत के साथ, अपने समय की, अपने समाज की, अपने सहकर्मियों की, अपने परिवेश की भी छानबीन करते चलते हैं। इन संस्मरणों ने जीवन की अनेक स्थापित मान्यताओं के सामने प्रश्नचिह्न लगा दिये हैं। क्या वही सत्य बोलना चाहिए जो अप्रिय न हो, क्या दिवंगत की निंदा नहीं करनी चाहिए, क्या हमें दूसरों की झिरी से झांक कर देखने का अधिकार है, क्या हम संस्मरणों के पोल वॉल्ट के सहारे दूसरों के आंगन की चहारदीवारी फलांग सकते हैं? इन संस्मरण लेखकों ने संस्मरण को अब साहित्य की ओ.बी.सी. विधा नहीं रहने दिया है। वह अब साहित्य की मुख्यधारा में है। साहित्य के लोकतंत्र में अब उसका महत्वपूर्ण स्थान है। गद्य के मंत्रिमंडल में अब वह अपना पद मांग रही है। संस्मरण इन दिनों साहित्य की केंद्रीय विधा के रूप में उभर रहे हैं। पत्रिकाओं में अब पाठक कविता या कहानी से पहले संस्मरणों की तलाश करते हैं। संस्मरण विधा अब वयस्क हो गयी है। उसके लिए अब नये काव्य-शास्त्र की आवश्यकता पड़ने लगी है। पुराने, परंपरागत निकष अब उसके सही कैरेट का अनुमान नहीं लगा पा रहे। अब उसे नये परिधान चाहिए, नये ड्रेस डिजाइनर भी। वह इक्कीसवीं शताब्दी की विधा बनने की दौड़ में सबसे आगे चल रही है। अब जो साहित्यकार स्वयं को चर्चा के केंद्र में रखना चाहता है, वह संस्मरण लिखता है। बिना संस्मरण लिखे, उसे लगता है कि उसका जीवन निरर्थक हो गया- व्यर्थ जीवन हाय! बहा बहा।

चर्चिल के शोफर ने जब चर्चिल के संस्मरण लिखे तो उसकी अधीरता, उसके भुलक्कड़पन, उसकी तुनकमिजाजी के किस्से कहे। चर्चिल को कहना पड़ा- "No man is a hero to his chauffer." मैं इसमें संशोधन कर कहना चाहूंगा- "No man is a hero to his chauffer and his wife and also his Sansmaran Lekhak."

आखिर शिवरानी जी के संस्मरणों में प्रेमचंद जी महान् ही महान् नहीं हैं, आदमी भी हैं, गृहस्थ भी हैं, बीमार भी हैं, हताश भी हैं। मंटों की कमजोरियां तो जग जाहिर हैं। रामविलास शर्मा ने 'निराला' के रोगों और मानसिक विक्षेपों को छिपाया नहीं है। मुक्तिबोध, हरिशंकर परसाईं भी महामानव नहीं थे। परसाईं ने तो स्वयं स्वीकार किया था कि- 'मेरा बहुत-सा वक्त पीने और बीमारी में जाया हो गया।' हम तुलसीदास के सही-सही संस्मरण नहीं लिख सकते क्योंकि उन्हें हम पूरी तरह जानते नहीं हैं किन्तु जिन्हें जानते हैं, उनका क्या छिपाना और क्यों छिपाना! टाल्स्टाय का स्त्रियों के प्रति

दाक्षिण्य भाव, शरतचंद्र का सोनागाछी विहार, 'उग्र' के नौटंकी के बाल अभिनेता के समय संचालक की बटुक-क्रीडा, इस्मत चुगताई का अपने मरहूम भाई अजीम बेग चुगताई को 'दोजखी' कहना। ये सब, इन सबका साहित्यिक प्रदेय कम नहीं करते, न ही उन्हें क्षुद्र या ओछा बनाते हैं, उनकी साहित्य और संवेदना की संरचना को समझने में सहायक ही होते हैं। यदि हमारे समय पर कुटिलता का आरोप है तो यह समय हमें कितना कुटिल बनाता है या इसे कुटिल बनाने में हमारा कितना योग है, इसकी भी जांच-पड़ताल जरूरी है। यह तेली शैली के संस्मरणों से नहीं हो सकता। इसके लिए हमें जाट जैसी स्पष्टवादिता, आक्रामकता और लिहाजहीनता चाहिए।

जाट और तेली शैली के संस्मरणों का भेद वास्तव में 'ए' या 'यू' फिल्मों जैसा ही है। सेंसर बोर्ड जिन फिल्मों को 'ए' यानी एडल्ट सर्टिफिकेट देता है, वे वयस्क दर्शकों के लिए होती हैं। कोमल पति, अपरिपक्व बुद्धि या विवेकहीन दर्शक उन्हें देखकर बिगड़ भी सकते हैं। कुछ वर्षों पहले तक हमारे समीक्षक उपन्यासों की समीक्षा करते हुए यह लिखना नहीं भूलते थे कि यह उपन्यास बहू-बेटियों के हाथों में निस्संकोच दिया जा सकता है पर अब समय बहुत बदल गया है। बहू-बेटियां अब अधिक जानकार और समझदार हो गयी हैं। अपने निर्णय वे स्वयं करती हैं। हमारी हिंदी का सामान्य पाठक भी अब किशोर नहीं रह गया है। वह वयस्क हो गया है। जो कुछ वह अपने समाज में, अपने आसपास, टी.वी. के पर्दे पर देखता है और समाचार पत्रों में पढ़ता है, उसे साहित्य में भी पढ़ना- देखना चाहता है। पाठक की अनदेखी कर जो साहित्य केवल कक्षाओं के लिए, पाठ्यक्रमों के लिए या केंद्रीय खरीदी के लिए लिखा जाएगा, वह अर्थजयी भले हो जाये, कालजयी नहीं होता। 'उसने कहा था' को पाठ्यक्रम में लगाने के लिए हिंदी कहानी के संपादकों ने उसका वह अंश निकाल दिया है, जिसमें घर-बार वाले दाढ़ी वाले सिक्ख लुच्चों का गीत गाते हैं और लौंग और नाड़े का व्यापार करने की बात करते हैं। 'आपका बंटी' को पाठ्यक्रम में निर्धारित करवाने के लिए उसके प्रकाशक कुछ पन्नों को पुस्तक के छात्रोपयोगी संस्करण से निकालने के लिए सहमत हो गये थे। यही नहीं, हम शालीनता और सुरुचि के तर्कों के दबाव में रीतिकाल के उस प्रसिद्ध दोहे को भी ब्रह्मचारी का कौपीन पहनाने से संकोच नहीं करते, जिसमें प्रोषित पतिका अपने कंता की अकर्मण्यता की शिकायत करते हुए कहती हैं :

न हंसकर के कर गहें, न रिस करके केस।
जैसे कंता घर रहें, वैसे रहें विदेस।।

अब इस दोहे में हमारे मर्यादावादी समीक्षक, हमारे शुचितावादी अध्यापक 'कुच' को हटाकर 'कर' रख देने को अपनी बड़ी जीत मानते हैं। अभी कुछ दिन हुए 'मनोरमा' में एक ऐसी माता जी का किस्सा छपा था, जिसमें वे अपने बच्चे को शरीर के अंगों के नामों की जानकारी दे रही थीं। बेटा, यह मुंह है, ये आंखें, ये कान, यह नाक, ये हाथ, यह पिट्टू, ये घुटना, ये पैर। राजा बेटे ने बीच में ही पूछ लिया- और मम्मी- ये ? मम्मी जी बोलीं- छि: अच्छे बच्चे गंदी बातें नहीं करते। अब सुबह से शाम तक जिस अंग से बेटे जी को काम पड़ता है, वह छि: हो गया, गंदा हो गया। बच्चे के मन में एक कुंठा तो मम्मी जी ने भर ही दी, यह कुंठा और घनीभूत होती जायेगी, यह बचपन के कुटेवों के रूप में प्रकट होगी, बड़े होने पर हकीम वीरूमल आर्य प्रेमी के पास लुक-छिप कर जाने को बाध्य करेगी और यदि ये राजा बेटा बड़े होकर साहित्यकार होने का फैसला करेंगे तो अपने उपन्यासों, कहानियों में भव्य ताजमहलों को अनावृत करने में ही अपना सारा कौशल लगा देंगे। असल में हमारे अधिकांश साहित्यकार, अध्यापक और समीक्षक भी, उस मानसिकता से अनुकूलित होते हैं, जो हमें काव्य दोषों से, ग्राम्यत्व और अश्लीलत्व दोष से, बचने का पाठ पढ़ाती है। अश्लीलत्व पर तो बहस हो सकती है पर ग्राम्यत्व दोष तो बिना किसी बहस के हमारे काव्य शास्त्र से खारिज कर दिया जाना चाहिए। भारत जैसे ग्राम प्रधान देश में, वयस्क लोकतंत्र के इस राष्ट्र में, लालू प्रसाद यादव जैसे नेताओं के इस लोकतंत्र में ग्राम्यत्व यदि दोष मान लिया जायेगा तो हमारी सारी विधानसभाएं, हमारी लोक सभा, हमारी सारी ग्राम पंचायतें ग्राम्यत्व दोष की दोषी बन जायेंगी। ग्राम्यत्व को दोष मानने वाले साहित्य में न परवर्ती 'निराला' के लिए कोई जगह बचेगी, न मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों के लिए। तब हमें राही मासूम रजा को, चित्रा मुद्गल को, राजकमल चौधरी और विष्णु खरे को भी साहित्य-निकाला देना पड़ेगा।

नामदेव ढसाल या ओमप्रकाश वाल्मीकी या हरीश मंगलम जैसे दलित लेखकों के लिए साहित्य के दरवाजे बंद करने का सबसे अच्छा उपाय हमारे अभिजन साहित्यधुरीणों को यही लगता है कि ग्राम्यत्व दोष, अश्लीलत्व दोष की लाठी लेकर इन्हें साहित्य के उपवन से बाहर खदेड़ दिया जाये। समकालीन परिदृश्य में अश्लीलता का प्रश्न नैतिकता की रक्षा का उतना नहीं, जितना सामाजिक न्याय और लेखकीय ईमानदारी का है। 'आधा गांव' की गालियां एक हताश, ठगे गये और आस्था शून्य कर दिये गये समुदाय के डेस्परेट हो जाने की मानसिकता का उद्घाटन करती हैं। गालियां यों भी हारे हुए व्यक्ति द्वारा ही ज्यादा दी जाती हैं, यह हार भौतिक ही नहीं, मानसिक या भावनात्मक भी हो सकती है। मैत्रेयी पुष्पा यदि 'कस्तूरी कुंडल बसै' में अपनी मां और मां की सहेली के जीवन के ऐसे प्रसंगों का उद्घाटन करती हैं तो उन्हें अश्लील कहकर खारिज नहीं किया जा सकता। वे अपने स्वयं के उल्लेख में भी ऐसे प्रसंगों से गुरेज नहीं करतीं, जिनसे उनके स्त्रीत्व की शालीनता को खरोंचें लगती हैं। वास्तव में यदि लेखक अपने लिए कुछ और, और दूसरों के लिए कुछ और की तराजू लेकर अश्लीलता के प्रश्न को चित्रित करता है तो उसका यह दोमुंहापन ही अश्लील है। बच्चन जी ने अपनी आत्मकथा 'क्या भूलूं क्या याद करूं' में अपने और प्रकाशवती के देह-प्रसंग को जिस मर्दानगी से चित्रित किया है, क्या उसी पौरुष से वे अपने परिवार की किसी स्त्री का, किसी पर पुरुष के साथ संबंधों का चित्रण कर सकते हैं ? यदि हां, तो उनके और प्रकाशवती के संबंध अश्लील नहीं हैं और यदि नहीं तो बच्चन जी अश्लील चित्रण के घेरे में आने से बच नहीं सकते। मैंने इस संबंध में उनसे पूछा था तो वे काव्यात्मक अंदाज में मेरा प्रश्न बरका गये थे-

'चांद में भी कलंक होता है।'

अश्लीलता यदि सत्य निष्ठा वश है, स्त्री और पुरुष समान अधिकारों की मानसिकता से उद्भूत है तो वह अश्लीलता नहीं पर यदि वह कुंठाजन्य है या दोहरी मानसिकतावश है तो वह गर्हित ही कही जायेगी।

नैतिकतावादी, मर्यादावादी विचारक और समीक्षक अश्लीलता का प्रश्न प्रत्येक युग में उठाते रहते हैं। आज से 70-80 वर्ष पहले पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के विरुद्ध 'विशाल भारत' के पृष्ठों में घासलेटी आंदोलन चला चुके थे। उग्र की पुस्तक 'चाकलेट' के विरुद्ध जब उन्हें पाठकों की अदालत में मनोवांछित सफलता नहीं मिली तो उन्होंने महात्मा गांधी के उच्चतम न्यायालय में जनहित याचिका दायर की। महात्मा गांधी उस युग के सर्वश्रेष्ठ और सर्वमान्य मर्यादावादी थे। गांधी जी ने 'चाकलेट' के प्रसंग पढ़े और चतुर्वेदी जी की जनहित याचिका खारिज कर दी। कहा- 'चाकलेट' पढ़कर लोग बिगड़ेंगे नहीं। वे दुष्कृत्य के प्रति जागरूक हो जायेंगे। 'उग्र' की कहानियां समाज को बिगाड़ती नहीं, सावधान करती हैं।' गांधी जी ने यह सब पत्र में लिखा था। चतुर्वेदी जी वह पत्र दबा गये। 1954 तक दबाये रहे। जब 1954 में चतुर्वेदी जी ने उस पत्र का लोकार्पण किया, तब तक बहुत देर हो चुकी थी। 'उग्र' पर अश्लील लेखक का तौक लटकाया जा चुका था। चतुर्वेदी की इस हरकत को 'उग्र' जी न कभी भूल पाये, न ही उसे क्षमा कर पाये। अब, पंडित जी की यह हरकत क्या 'उग्र' के चाकलेट से कम अमर्यादित और अश्लील नहीं थी? 'उग्र' जो ने चतुर्वेदी जी को उनका सही नाम दिया- चूतरवेदी। जाटों जैसी बात!

अश्लीलता का प्रश्न कुछ-कुछ भाषा से भी जुड़ा है। जो शारीरिक अवयव संस्कृत की तत्समता में अश्लील नहीं होता, वही गांवों की बोल-चाल में भदेस या फूहड़ हो जाता है। असल में अश्लीलता का संबंध हमारे ज्ञान द्वारा उत्पन्न होने वाली बिंबात्मकता से है। शिश्न कहने से उसका बिंब जानकारों के मस्तिष्क में कुछ देर से ही खड़ा होता है पर उसका बोलचालीकरण हमारी चेतना को तत्काल झकझोर देता है। फोर लेटर वर्ड को समझने बूझने में कुछ समय लगता है, उन वर्णों से मिलकर बनने वाला शब्द घंटे के समान तत्काल बजता है। अभी अमेरिका प्रवास से लौटे मेरे शोध-छात्र ने बताया कि वहां बाइबिल का रुपांतरण वहां की बोलचाल की भाषा में किया जा रहा है। वह शोध-छात्र बाइबिल के हिंदी अनुवादों की भाषा पर शोध-कार्य कर रहा था। जब वह अमेरिका जाने लगा तो मैंने वहां के बाइबिल के अनुवादों की भाषा के संबंध में भी जानकारी एकत्र करने को कहा। उसने लौटकर बताया कि वहां की तरुण पीढ़ी में बाइबिल पढ़ने-सुनने के प्रति कम होते रुझान से वहां के समाजशास्त्री परेशान थे। उन्होंने भाषाविदों, मनोविज्ञानवेत्ताओं से पता लगाया कि इसका मूल कारण है बाइबिल की ऐसी भाषा जो अब उनके लिए अबूझ हो गयी है। उन्होंने बाइबिल का वहां की टपोरी बोली में अनुवाद किया- बाव, शिट, आह, नो वाली भाषा। तरुणों को लगा कि बाइबिल के संत उनसे ही संवाद कर रहे हैं। बाइबिल की लोकप्रियता तरुणों के बीच में बढ़ गयी। हम हिंदी को पठनीय क्यों नहीं बनने देते? हमारे लिये भाषा की शुद्धता महत्वपूर्ण है या उस भाषा से निःसृत होने वाली संवेदना और विचार? जब 'सोशल इंजीनियरिंग' हमारे समय की सबसे बड़ी चिंता हो तो हमें लिंग्विस्टिक इंजीनियरिंग को भी महत्व देना होगा। संस्मरण केवल व्यक्ति का इतिहास नहीं होते, वे दो व्यक्तियों की अन्तर्क्रिया का भी बखान नहीं करते, वे अपने परिवेश, अपने समाज, अपने समकालीन मूल्यों का इतिहास भी होते हैं।

मैंने बचपन में अपनी मां से पूछा था- जिज्जी, यह क्या है? मां को हम लोग जिज्जी कहते थे। जिज्जी ने न मुंह बनाया, न मुझे गंदा कहा। बोलीं- सुस्सू। बेटा, अपन इसी से मुतू करते हैं। उस समय सुस्सू बस एक शब्द था। उसकी कोई विवक्षा नहीं थी। बाद में जब बड़ा हुआ तो मैंने मां के उस नामकरण पर विचार किया। बचपन में मां सुलाने के पहले अपने दोनों पैरों के पंजे आगे कर लेतीं, हमको उन पर बिठा लेतीं, हमारा मुंह सामने की ओर होता। मुंह से वे सू-सू की आवाज करती जातीं। हमारी सुस्सू हो जाती। अब सुस्सू किसी शब्दकोश में नहीं मिलेगा। मुझे तो नहीं मिला पर अधिकांश माताएं इसी ढंग से बच्चों की सू-सू करवातीं हैं। सू-सू की यह आवाज उस क्रिया के लिए निश्चित हो गयी और उस अंग के लिए भी। यादृच्छिक। सारे शब्द यादृच्छिक ही होते हैं। उनका स्वयं में कोई अर्थ नहीं होता। अर्थ उनमें समाज भरता है। कुछ शब्द अत्यधिक प्रचलन से अपनी शालीनता खो देते हैं। 'बासन बहुत घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।' उनके लिए समाज नये शब्द गढ़ता है। प्रत्येक पीढ़ी नित्य क्रियाओं के लिए नये शब्द इसीलिए गढ़ती है। दिशा से पॉटी तक। इसलिए अश्लीलता का प्रश्न भी समय सापेक्ष है। समय सापेक्ष और शब्द सापेक्ष और समाज सापेक्ष भी।

अब जाट और तेली में यही अंतर है। जाट वह जो दो टूक कह दे, साफ-साफ कह दे, बिना लिहाज के कह दे। वह खेत का आदमी होता है। खड़ी-खड़ी बात कहने वाला। खड़ी बोली का अर्थ पता नहीं लोगों ने क्या-क्या लगाया है। मेरी दृष्टि में खड़ी बोली वह है जो अपरिष्कृत होती है, खेत वाली होती है, खड़ी धनिया की तरह, खड़ी मूंग की तरह। अपनी खड़ी बोली जाटों की बोली है- जाटवी। तेली घर में आता-जाता है, उससे बहू-बेटियां तेल खरीदतीं हैं, उसे चिकनी-चुपड़ी बात कहनी पड़ती है, मुंह देखी बात कहनी पड़ती है। वह जिस घर में जाता है, वही उसके लिए मालिक है- श्रद्धेय, बड़े कक्का, दार जी। अतः तेली को सच बोलना नहीं आता, सच बोलकर वह अपना धंधा चौपट नहीं कर लेगा?

हिंदी में संस्मरणों का जो जाट घराना है, वह खाट से कम, कोल्हू से ज्यादा काम लेता है। यह बात दूसरी है कि किसी के पास छोटा कोल्हू है, किसी के पास बड़ा। पेरने की क्षमता भी सब जाटों की एक सी नहीं है। अब जो जाट 'उग्र' जैसा होगा वह ज्यादा पेरेगा, मंटो भी कम नहीं पेरता, न ही 'अश्क'। इस बिरादरी में दिल्ली आगरे का जाट भी है, बनारस का भी, इलाहाबाद का भी। जबलपुर और सागर के जट्टों को भी हमें याद रखना चाहिए। अब संस्मरणों के चौधरी यही जाट लोग हैं। क्या कीजिए, समय-समय की बात है। □

शरत् की बैठकबाजी

बांग्ला के महान कथाशिल्पी शरतचंद्र चट्टोपाध्याय को बैठकबाजी और गपबाजी का बहुत शौक था। बातों-बातों में वह अनुभव-सागर के ऐसे मोती चुन लाते, जिनमें जीवन के विलक्षण सत्य से साक्षात्कार होता।

अभिनव मानपत्र

रसचक्र गोष्ठी के अन्यतम सदस्य श्री विश्वपति चौधरी अपने मित्र श्री हरेन्द्रनाथ सिंह से तंग आ गये थे। प्रत्येक गोष्ठी में आकर अपनी पत्नी को संबोधित करके लिखे गये तरल प्रेम-गीतों का काव्य-पाठ इस तरह शुरू करते कि बंद करने का नाम न लेते। रसचक्र गोष्ठी का नियम था कि हमेशा हास्य-गोष्ठी होगी, पर सिंह साहब के कारण बोर-गोष्ठी हो जाती।

एक दिन निश्चित किया गया कि रसचक्र की ओर से ठाकुर हरेंद्रनाथ सिंह को एक मान-पत्र दिया जाय। इस प्रस्ताव के प्रस्तावक थे- शरत् बाबू। तय हुआ कि विश्वपति चौधरी मान-पत्र भेंट करेंगे।

रविवार के दिन सवेरे नौ बजे हरेंद्र बाबू चुन्नटदार धोती, मलमल का कुर्ता पहने आये। उस दिन साठ वर्ष के वृद्ध कवि चांद की तरह चमक रहे थे। बाल करीने-से कटे हुए थे। धीरे-धीरे सदस्य गण आने लगे। केवल विश्वपति चौधरी का पता नहीं था।

उनके इंतजार में लोग बेचैन होने लगे। यह देखकर शरत् बाबू ने कहा, "विश्वपति के आने में इतनी देर क्यों हो रही है, समझ में नहीं आ रहा। पता नहीं, कहां फंस गया। न हो, आप लोग कार्यवाही प्रारंभ कर दीजिए। कम-से-कम माला-चंदन से पूजा तो प्रारंभ कर दो।"

दो लड़कियों ने आगे बढ़कर माला-चंदन लगाया। आरती की। यह दृश्य देखकर शरत् बाबू बोल उठे, "अब जाकर हरेन वर-वर-सा दिखाई दे रहा है।"

सव्यसाची ने कहा, "अरे, यह क्या कहा आपने? शरत् दादा ने हरेन भाई को बर्बर कह दिया और उन्होंने बिना किसी प्रतिवाद के मान लिया। यह तो बड़ा अन्याय है।"

विश्वनाथ मुखर्जी ने कहा, "रसचक्र के सदस्य रसिक हैं। आपकी तरह नहीं है।"

समय गुजरता जा रहा था। सभी उत्कंठा से आगे के कार्यक्रम को देखना चाहते थे। इधर शरत् बाबू निर्विकार भाव से बैठे रहे। केवल यही कहा, "विश्वपति के लिए परेशान होने की जरूरत नहीं है। उसे आने में देर हो सकती है। मान-पत्र तैयार करवा रहा होगा।"

एकाएक दरवाजे के पास आकर एक टैक्सी ठहरी। विश्वपति के हाथों में कागज में लपेटी हुई कोई सामग्री थी। शरत् बाबू ने कहा, "क्यों जी विश्वपति, बड़ी देर कर दी तुमने।"

विश्वपति ने कहा, "आपने जिस तरह का मान-पत्र लाने को कहा था, वैसा कलकत्ते में कहीं मिल नहीं रहा था इसीलिए देरी हो गयी।"

शरत् बाबू ने कहा, "तब और देरी करने की जरूरत नहीं। काफी देर हो चुकी है। फोटोग्राफर सवेरे से फोटो खींचने के लिए बैठा है। विश्वपति तुम मानपत्र सिंह के हाथों में रख दो।"

विश्वपति ने हिचकते हुए कहा, "आप गोष्ठी के अध्यक्ष हैं। आपके रहते मैं क्यों मान-पत्र भेंट करूंगा?"

शरत् बाबू ने कहा, "मैं दूं या तुम, एक ही बात है। रसचक्र की ओर से इसकी जिम्मेदारी तुम्हें सौंपी जाती है।"

हरेंद्रनाथ सिंह माला पहने बैठे हैं और उत्तेजना के कारण जाड़े के दिनों में उनके मस्तक पर पसीने की बूंदें चमकने लगी हैं। बड़े संकोच के साथ विश्वपति ने उक्त सामग्री को हरेंद्र सिंह के हाथों में रखा।

शरत् बाबू ने कहा, "कम-से-कम इस मान-पत्र को खोल दो ताकि लोग देख तो लें।"

विश्वपति ने कुछ क्षण तक ऊहापोह करने के बाद कागज में लिपटी सामग्री को खोला तो उसमें से मानकोचू (बंगाल में उत्पन्न होने वाला एक पेड़ जिसका पत्ता केले के पत्ते जैसा बड़ा होता है) का पत्ता था।

यह देखकर हरेन बाबू बिल्ली की तरह उछल कर खड़े हो गये। गले की माला तोड़ डाली और चंदन पोंछने के बाद आग्नेय दृष्टि से शरत् बाबू से उन्होंने कहा, "समझ गया दादा, सारी बदमाशी आपकी है। आप मेरे साथ ऐसा मजाक कर सकते हैं, इसका विश्वास नहीं था।"

शरत् बाबू आंखों और मुंह पर विस्मय का भाव लाते हुए बोले, "मुझे क्या मालूम। सारा आयोजन तो विश्वपति ने किया है। बेकार मुझे बदनाम कर रहे हो। मान-पत्र लाने की जिम्मेदारी इसी पर थी। वह ले आया।"

हरेन बाबू ने कहा, "ठीक है। सब समझ गया। मेरी और आपकी यह अंतिम मुलाकात है।"

शरत् बाबू ने कहा, "उसके पहले कम-से-कम एक फोटो हो जाये। फोटोग्राफर को सवेरे से बैठा रखा है।"

शरत् बाबू के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया। लोग शरत् बाबू पर भले ही नाराज हो जाएं, पर उनके साथ फोटो उतरवाने का प्रलोभन कोई अस्वीकार नहीं करता। हरेन बाबू को बीच में बैठाकर फोटो उतरवाया गया। हरेन बाबू के पीछे श्री विश्वपति चौधरी उक्त मानकोचू के पत्ते को उठाकर खड़े थे! □

हरिपाल त्यागी

व्यंग्य को मृदुल प्रखरता प्रदान करने वाले व्यंग्यकार की स्मरणीय रचना

कस्बे का एक और आदमी

काफी सोच-विचार के बाद हम इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि कोई मामूली-सा मीडियॉकर भी मीडिया की सीढ़ी के सहारे बांस के ऊपरी छोर पर बैठ कर महापुरुष कहला सकता है। जरूरी सिर्फ इतना है कि आदमी लफ्जों की कीमियागिरी जानता हो। इसका जीता-जागता उदाहरण कस्बे का वह आदमी है, जिसने इस चरम सत्य को बहुत पहले समझ लिया था। यह कहानी अपने आप में इसलिए भी दिलचस्प है कि एक मामूली-सा कहानीकार, हिंदी का होते हुए भी, महज लफ्फाजी के जरिये तरक्की करके कैसे करोड़पति बन गया!

कोई एक ऊपर सत्तर साल का अरसा गुजरा होगा, कस्बे के आदमी ने पहली बार कस्बे में आंखें खोलीं। आंखें तो खोलीं, मगर तब वह नवजात था और मुकम्मल आदमी होने में उसे अगले कई बरसों की दरकार थी। चूंकि नर या मादा की अलामतें नवजात बच्चे में ही नजर आ जाती हैं, इसलिए तभी से हजरत की पहचान एक उभरते हुए मर्द की शक्ल में होने लगी थी।

कस्बे में और भी लोग थे। जानवर और परिंदे भी थे, पेड़-पौधे तो थे ही- सभी में कस्बाई असर था। जानवरों, परिंदों और पेड़-पौधों का जिक्र छोड़ दें, तो भी किसिम-किसिम के नमूने वहां देखने को मिल जाते। ज्यादातर लोग कस्बाई दिमाग थे- याने, आधे शहरी-आधे देहाती। आधा तीतर और आधा बटेर जोड़ने से जो एक परिंदा बनेगा, उसे कस्बे के आदमी के रूप में पहचाना जा सकता था। ऐसे ही परिंदों को खास लोग 'आम आदमी' कहते थे। इन्हीं आम लोगों में एक जोतषी काका भी हुआ करते थे।

लड़का बड़ा हुआ तो जोतषी जी ने उसकी कमर पर लहसुन के काले निशान देख लिए और तुरंत भविष्यवाणी दाग दी, 'ये लच्छन तो किसी महापुरुख में ही देखने को मिलते हैं... कमर पर नील के निशान! मतलब साफ है- ललुआ औतारी है... देख लेना, सत्तावन कलियों नें यह अकेला मर्द कमल निकलेगा। मुंशियों और लालाओं से शब्दों की कीमियागिरी विरासत में मिली है... जो हो सो, लड़का कमा खाएगा। खुदा न खास्ता मच्छीमार भी बन गया तो देखना, मछलियां खुद ब खुद इसके जाल पै फिदा हो जाएंगी।'

यह भविष्यवाणी सौ फीसदी सही निकली। कस्बे का आदमी बड़ा होने पर साहित्यकार बन गया। हालांकि उसमें कुछ गुण मच्छीमार के भी थे। वह डोरी-धागे का इस्तेमाल किये बिना, शब्दों से ऐसा जाल तैयार करता, जो वास्तविक जाल से ज्यादा वास्तविक लगता। यह कला उसे विरासत में मिली थी, जिसे उसने और भी विकसित किया। गिने-चुने दस या ज्यादा से ज्यादा बारह शब्द थे, जिनकी चटनी बहुत जायकेदार हुआ करती। वह भूख, गरीबी, बेरोजगारी, लाचारी के साथ जहालत, तवालत, वकालत और अदालत जैसे शब्दों को घोट-पीस कर एक अवलेह तैयार करता, फिर उस अवलेह को समाजवाद या मार्क्सवाद की चाशनी में चार दिन तक डुबोये रखता। उसके बाद वह हवा में से जिस चीज को पकड़ता, वह दो शब्दों को मिलाकर बनाया गया व्यक्ति विशेष था- 'आम आदमी'। इसी आम आदमी को बीच से चीर कर वह अपनी चटनी उसमें भर देता और थोड़े-से लेप का उपयोग चीरा ढकने के लिए भी करता। इस तरह के कई आम आदमी उसकी जेब में पड़े रहते, जिनके कारण कुछ लोग उसे प्रगतिशील तक मान बैठते। कस्बे के ज्यादातर लोग उसे पहचानने लगे थे- वह एक ऐसा गुल था, जो खुद खिल कर और भी कई गुल खिला सकता था। मगर इसके लिए कस्बे की हदबंदी काफी नहीं थी, इसी कारण उसे पूर्ण विकास के अवसर खोजने के लिए इलाहाबाद जाना पड़ा।

इलाहाबाद में उसके जैसे शरीफजादों की एक समांतर दुनिया पहले ही मौजूद थी। सभी के पास अपने-अपने आम आदमी थे। दारू-गोष्ठियों या कॉफी-हाउस में खाने-पीने लायक अन्य वस्तुओं के साथ आम आदमी का इस्तेमाल भी चटखारे के साथ हुआ करता। उन दिनों के आम आदमी में देसी अमियों जैसा रस हुआ करता था। जितनी अमियां, उतने ही स्वाद। आंख बंद कीजिए और चूसते रहिए। जब तक रस है, चूसिये। फिर गुठली अलग, बक्कल अलग!

कड़की के खुशनुमा दिन थे। दुख में हंसी आती थी और सुख में आंसू ढुलकने लगते थे! एकाध पैग भीतर जाते ही देवदास लोग देवदासियां ढूंढने लगते। तब वे अपने को किसी शहंशाह-ए-आलम से कम न समझते। ऐसी ही एक खुशनुमा शाम को, जब बबुआ अखबार की

रद्दी और उदरस्थ की जा चुकी शराब की खाली बोतलें बेचने निकले तो आपकी नजर संगम से लौटती कुछ स्त्रियों पर पड़ी। हालांकि वे इतनी दूर थीं कि न तो उनकी उम्र का अंदाजा हो पा रहा था और न ही रूप-रंग का। वे सभी औरतें उसे अपनी-अपनी-सी लगीं और मन में कुछ ऐसी घुमड़न हुई कि आंखों से बूंदाबांदी होने लगी। स्त्रियां तो किसी दूसरी सड़क पर मुड़ कर मकानों की ओट में गायब हो गयीं और दिमाग में उभर आये जोतषी काका के नसीहत भरे शब्द- मातृवत् पर दारेषु, पर द्रव्येषु लोष्टवत्... और ठीक इसी समय हवा में उड़ते हुए दो और शब्द भी हमारे बबुआ के कानों में आ गिरे- द्वंद्वात्मक भौतिकवाद।

हालांकि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का आगमन इलाहाबाद में बहुत पहले हो चुका था और हवा के साथ इसके सूक्ष्माणु दूर-दूर तक फैल चुके थे। अर्थ समझने में कोई दिक्कत भी नहीं थी! द्वंद्वात्मक भौतिकवाद- अर्थात् कुश्ती लड़ कर भौतिक सुविधाएं प्राप्त करना। नई-नई व्याख्याओं और सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषणों का दौर चल निकला। हर नौजवान पूरे कॉन्फिडेंस के साथ मेज पर मुक्का मार कर बातें किया करता और कॉफी हाउस का मैनेजर मन मसोस कर देखता रह जाता।

बबुआ समझदार तो कम नहीं था, लेकिन उसकी समझ में इतनी-सी बात नहीं आ रही थी कि जिन भौतिक सुविधाओं को खुशामद-दरामद, लल्लो-चप्पो, बारगेनिंग-ब्लेकमेलिंग वगैरह से हस्तगत किया जा सकता है, उनके लिए साली द्वंद्वात्मकता की जहमत उठाना और बिला वजह जोखिम मोल लेना कहां की अक्लमंदी है? क्लास कैरेक्टर भी इन चीजों के अनुकूल न था। इस सवाल ने बबुआ को उलझन में डाल दिया। अंत में, यह समस्या दुष्यंत कुमार त्यागी 'परदेसी' के सामने लायी गई, जो न सिर्फ उसके सहपाठी, बल्कि जिगरी दोस्त भी थे।

परदेसी जी एक कल्पनाशील बुद्धिजीवी थे, गीतकार थे और जरूरतमंदों की मदद के लिए तैयार रहते थे। कल्पनाशील बुद्धिजीवी की एक विशेषता यह भी होती है कि जिस विषय में वह शून्य होता है, उसी विषय पर ज्यादा प्रभावकारी वक्तव्य देता है- ऐसा प्रभावकारी कि विषय का बड़े से बड़ा पंडित भी चक्कर काट जाए! लेकिन इन दो शब्दों को सुन कर वह भी चकरा गये। वैसे भी गंभीर बातों को वह गंभीरता से नहीं लेते थे। लेकिन दोस्त की मदद का सवाल था- कल्पना का घोड़ा दौड़ाया और उसने अपने सही ठिकाने पर पहुंच कर ही सांस ली, 'अरे यार, यह साला तो औरतों पर किया जाने वाला कोई प्रयोग मालूम पड़ता है, जिससे सृष्टि का विकास हुआ है।'

इस उत्तर से बबुआ इतने संतुष्ट हुए कि तुरंत मार्क्सवादी हो गये। लेकिन आम आदमी ने ही आपके मार्क्सवाद का विरोध किया और उसी की खातिर आपने मार्क्सवाद का त्याग भी कर दिया। आप की इस कुरबानी से भला किसका सिर ऊंचा न हुआ होगा? फिर भी, यह मानना होगा कि हक की लड़ाई आपने जारी रखी। दस अंडे पेट में और दस अंडे ओवरकोट की जेबों में जमाकर अन्याय के खिलाफ भूख-हड़ताल तक की! इस प्रकार गांधी जी के तौर-तरीकों में जरूरी सुधार करके आपने आत्मयातना तथा भूखवाद के खिलाफ मुहिम चलाई, जिससे भावी नेताओं का मार्ग प्रशस्त हुआ।

कड़की के इन्हीं दिनों में बबुआ को अश्क जी की चाकरी भी करनी पड़ी, जबकि अश्क जी स्वयं बेरोजगार थे और हिंदी के 'ग्रीब' लेखक हुआ करते थे। इसी कारण, चाकरी ज्यादा दिन तक चल नहीं सकी, बावजूद इसके कि दोनों महापुरुष कई मामलों में समान थे- दोनों कथाकार थे, बातूनी थे, गरीब थे, दोनों ही सत्य से खफा

थे और उसकी खोज में रहते थे। सत्य भी उनकी खोज में था, लेकिन तीनों ही खोज के मामले में असफल थे। डींग हांकने में दोनों एक-दूसरे से बढ़-चढ़ कर थे और रचनाधर्मिता के बेहतरीन नमूने थे। इन्हीं विशेषताओं से इनके नाम लोगों की जबान पर चढ़ गए। हालांकि साहित्य के आलोचकों ने, उकसावे के बावजूद, कभी इनकी तरफ उचित ध्यान नहीं दिया। उचित की छोड़िये, अनुचित ध्यान भी नहीं दिया।

एक दिन हुआ यह कि हमारे बबुबा की नजर ऐसी मछली पर जा अटकी, जो बला की खूबसूरत थी। चिकनी इतनी कि हाथों से फिसल-फिसल जाए। समझ में न आता कि भून कर खाया जाए या जिंदा को ही निगल लिया जाए। मछली जिगरी दोस्त की प्लेट में थी और बबुआ साझेदारी चाहते थे। दोस्त ने पूरी प्लेट ही बबुआ के आगे सरका दी और दरवाजे से बाहर हो गये। बबुआ ने देखा कि सामने की प्लेट 'नीली झील' में तब्दील हो गई है। उसमें लेटी हुई मछली ने इनसानी शक्ल इख्तियार कर ली है और अब वह मुसकराने लगी है। बबुआ को लगा, अगर अब भी कांटा न फेंका गया तो कहीं मछली ही उसे न निगल जाए! फौरन से पेशतर उसने झील में कांटा फेंक दिया। पर वह सुनहरी मछली को झील से बाहर लाने में कामयाब न हो सका। बल्कि मछली ने ही शरीफजादे को झील में खींच लिया। काफी जद्दोजहद के बाद, जब हमारा बबुआ नीली झील के बाहर निकला तो वह एक अलग ही नस्ल का जीव था। कस्बे के आदमी ने उसे पहचानने से इनकार कर दिया। उसे पहचाना भैरवप्रसाद गुप्त ने, जो उन दिनों 'कहानी' के संपादक हुआ करते थे। भैरव जी रंगों की गाढ़ी परतों के पार झांकने की क्षमता रखते थे। कीचड़ और कमल के अविभाज्य संबंध से परिचित थे।

इस घटना के बाद कस्बे के आदमी ने कस्बे के आदमी को पीछे छोड़ दिया और गांवों से आये प्रवासियों-परदेसियों को कस कर पकड़ लिया। कथा-साहित्य में संयुक्त मोर्चे की शुरुआत यहीं से हुई। बबुआ की गुड्डी चढ़ गई। विद्यार्थी जीवन में ही अच्छा-खासा नाम हो गया। 'कहानी' ही नहीं, 'कल्पना' में भी अलग-अलग काट और रंग के फूल खिले। यही हिंदी कहानी का स्वर्णकाल था। यह एक ऐसी समांतर दुनिया थी, जिसके फनकार हुस्न के तलबगार थे और मौका-बेमौका गली-कूचों में ताक-झांक करते हुए रंगे हाथ पकड़े जाते थे और तभी उन्हें अभिव्यक्ति की कीमत भी चुकानी पड़ जाती थी। बबुआ ने मजे तो खूब लिये, लेकिन कीमत चुकाने के लिए दोस्तों के सिर आगे कर दिये- यानी जूता किसी का होता, सिर किसी का और अभिव्यक्ति किसी और की हुआ करती थी।

कहते हैं- कि शोहरत, शराब और समंदर का पानी प्यास बुझाने के बजाय उसे और भड़का देते हैं। एक दोस्त आलोचक, जो वाराणसी से पधारे थे और अपने नाम को सार्थक करना चाहते थे, उनकी मदद से उस जमाने के कई कथाकार फर्श से अर्श तक उछाल दिये गये और वहां उन्हें टिमटिमाने का पूरा अवसर दिया गया। महीना बीतते न बीतते उन आकाश-दीपों की रोशनी लगातार कम होते हुए खत्म हो जाती और वे फिर से धरती पर आ जाते। लेकिन पहली तारीख आते ही, पत्रिका के नये अंक के साथ, फिर से टिमटिमाने के लिए ऊपर उठा दिए जाते। इसी सिलसिले के चलते 'स्वर्णयुग' आया। हालांकि, इनमें कुछ सच्चे कथाकार भी थे, जो गुटबाजी और शोर-शराबे से अलग थे। इसी दौरान मार्कंडेय अचानक इतना ऊपर उठा दिए गए कि खतरा पैदा हो गया कि कहीं यह विभूति पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति को लांघकर ज्यादा ऊपर न निकल जाए। इस उठान से वह इतना घबरा गये कि एकबारगी जब धरती पर तशरीफ लाए तो हमेशा के लिए अंडरग्राउंड हो गये। उनकी कहानियों को समझने के लिए जो नया शब्दकोश तैयार किया जाना था, पता नहीं उसका क्या हुआ?

समय ने करवट बदली। देश में पुरानी गुलामी की जगह नयी गुलामी ने ली। नयी गुलामी ने नये इनसान को जन्म दिया और नये इनसान ने 'नई कहानी' को। हर पुरानी चीज का स्थान नयी चीजें ले रही थीं- इससे पुरानी बीवियों के खतरे बढ़ गये। 'कहानी' में से भांय-भांय की आवाजें निकलनी शुरू हो चुकी थीं। इलाहाबाद कस्बे से भी गया गुजरा लगने लगा था; लेकिन रिटायर्ड किस्म के लेखकों के लिए फिर भी ठीक था। अश्क और इलाचंद्र जोशी वगैरह कई कथाकारों को, उनके साठ साला होने से पहले ही, 'नये कथाकार' ने रिटायर्ड मान लिया था। अश्क जी का तिलमिलाना कुछ हद तक ठीक भी था। ऐसे ट्रांजिशनल पीरियड में बबुआ महापुरुष बनने के लिए बेकरार हो उठा और महापुरुषों की नगरी दिल्ली आ गया। बबुआ को देसी और परदेसी दोनों से लगाव था। दिल्ली आकर उसकी जिम्मेदारियां कई गुना बढ़ गयीं। एक पैर रेडियो पर, तो एक रैगड़पुरा में- साल भर चलने वाली चप्पलें दो दिन में घिस जातीं और नई जोड़ी खरीदने के लिए आम आदमी की जेब टटोलनी पड़ती।

नये इनसान को लेकर मन में तरह-तरह की शंकाएं घर करने लगीं। साहित्य का ज्यादातर बोझ दिल्ली के कंधो पर आता जा रहा था। भैरव जी 'नई कहानियां' के संपादक होकर दिल्ली आ चुके थे।

समय के डॉक्टर ने काफी पहले दुष्यंत कुमार त्यागी 'परदेसी' की बैक साइड का आप्रेशन करके 'त्यागी' और 'परदेसी' की पूंछ काट कर अलग कर दी थी- अब वह भी नये इनसान में आ मिला था। हालांकि, उसकी आदिम प्रवृत्तियां अंत तक साथ रहीं। जाहिर है, नये रूप में आते ही दुष्यंत ने गीत लिखना छोड़ दिया और नयी कविता में पहला कदम रखा। इसके लिए ठोस गद्य की समझ भी जरूरी थी, लेकिन दुष्यंत अनुभववादी न था और अपनी ही समझ पर विश्वास न करके दूसरों के अनुभवों से लाभ उठाना भी जानता था।

हमारे हर दिल अजीज बबुआ देसी को साथ ले आये

थे। दुष्यंत इलाहाबाद में ही अटका रह गया। लेकिन इलाहाबाद में उसके छोटे-छोटे सवाल भी हल नहीं हो पा रहे थे, इसलिए दिल्ली का चक्कर लगाना जरूरी था।

बबुआ अपने महत्व को जताने के लिए तुरत-फुरत कोई किस्सा गढ़ कर सुना सकता था। झांसा देना उसकी मजबूरी ही नहीं, फितरत भी थी। व्यवस्था का वह जंग लगा पुर्जा न था, बल्कि काफी चलता-पुर्जा था। 'नशाबंदी' पर कहानी लिखने के लिए उसने एक बोतल 'ओल्ड स्मगलर' की मांग की। 'नशाबंदी' के संपादक ने सहर्ष यह मांग स्वीकार कर ली। 'नशाबंदी' का संपादक खुद पियक्कड़ था और नशे के खिलाफ दो वाक्य पूरे करने पर उसे हरेक बार एक पैग की जरूरत पड़ती थी। एक बार पीने के बाद वह ऐसा सोया कि फिर कभी उसकी आंख ही न खुली। इस घटना से उदीयमान महापुरुष को बहुत धक्का लगा। 'नशाबंदी' को ऐसे लेखक और संपादक फिर नसीब न हुए।

बबुआ में महापुरुष होने के तमाम लक्षण थे। भैरव जी का स्थान ग्रहण करके वह 'नई कहानियां' का संपादक हुआ। नई कहानियां के तीन झंडाबरदार थे- हमसफर, हममकसद और हमदम! तीनों अलंबरदार अशोक स्तंभ के तीन शेरों की तरह, एक-दूसरे की पीठ को मजबूती देते हुए, अलग-अलग दिशाओं में मुंह किये खड़े थे। आपसी जै-जैकार से दिशाएं गूंज रही थीं। मारे खुशी के उनके मुंह आधे खुले हुए थे। लेकिन (सौभाग्य और दुर्भाग्य से) नयी कहानी के चंद बेहतरीन कथाकार और भी थे, जो आत्मप्रचार के मामले में बेहद आलसी थे। उनकी रचनाएं त्रिमूर्ति की आड़ में अदृश्य कर दी जाती थीं या फिर कोलाहल में अनसुनी रह जाती थीं। फिर भी 'नई कहानियां' की गरिमा उनके बिना संभव न थी, इसलिए उन्हें छापना भी मजबूरी थी। ऊंचे स्तर की किसी श्रेष्ठ पुस्तक के आरंभ में कमजोर, लंबी और उबाऊ भूमिका से जो स्थिति पैदा होती है, वही स्थिति महापुरुष भी पैदा करते थे।

माना कि वास्तविकता जानने और विरल सत्य तक पहुंचने में झूठ और फरेब की हजार गलियां पार करनी पड़ती हैं, लेकिन हमारा संघर्षशील बबुआ, जो अब सचमुच महापुरुष हो गया था, उन सभी गलियों का चक्कर लगा आने के बाद, जिस एक बिंदु पर आकर रुकता, वह सत्य के सिवाय और कुछ भी हो सकता था। मगर उसके निष्कर्ष बेमतलब और फिजूल होने पर भी आकर्षित करते थे। उसकी कारीगरी का यही कमाल था। शब्दों का खमीर फौरी तौर पर कुछ सुरसुरी तो दे जाता, पर दो दिन बाद ही उसमें से बास आने लगती। इन्हीं दो दिनों में महापुरुष शिष्य परंपरा का विस्तार करते, नये समीकरण का आटा गूंथते, अतिरिक्त ऊर्जा विसर्जित करके संतुलन बनाये रखने के लिए तेजी से कदम बढ़ाते हुए रैगड़पुरा की तरफ जाते हुए देखे जाते। रेडियो और टीवी के लिए स्क्रिप्ट राइटिंग करते और साथ ही 'नई कहानियां' का संपादन भी करते। अपनी व्यस्त दिनचर्या से जीवन-संगिनी का संतुलन बिगाड़ कर आपको जो सुख-शांति और खुशी हासिल होती, वैसी खुशी किसी के लिए भी ईर्ष्या का कारण हो सकती है। कई दुखों को निचोड़ कर ही किसी महापुरुष की एक खुशी बनती है, जिसको छोटा करके नहीं देखा जाना चाहिए।

जैनेन्द्र, यशपाल, अश्क, विष्णु प्रभाकर आदि को कई बार घस्सा लगाने के बाद नई कहानी बहुत आगे बढ़ गई थी। दूसरे बुजुर्गों की तो बात क्या, वह अपने बाप को भी कुछ नहीं समझती थी। जबकि उसका बाप एक समर्पित कथाकार हुआ करता था और उसने कहानी के लिए कष्ट भी कम नहीं सहे थे। मूल्यों की लड़ाई में वह क्षत-विक्षत होता रहा था। वह गुलामी के खिलाफ खून-पसीना एक करता रहा था, जबकि नया कथाकार जाने-अनजाने नयी गुलामी के अनुकूल ढल रहा था... फिर भी... फिर भी, विडंबनाओं की हकीकत से इंकार नहीं किया जा सकता। विकास का कोई सीधा मार्ग नहीं होता।

शाम का समय था। गली के गुंडों की गालियों, सड़क पर जलेबियां उतारते उनके कदमों और चाकू-छुरों पर दमकते हुए लाल द्रव्य के कारण मौसम काफी रंगीन और सुहावना हो उठा था। गली में कच्चे-चमड़े से खुरचे गए बुरादे के ढेर थे। उसकी तेज दुर्गंध भी मौसम के सुहावनेपन को कम नहीं कर पा रही थी। इसे एक खुशनुमा रात ही कहेंगे कि महापुरुष मांस के दरिया में स्नान करते हुए संपादन कार्य में लीन थे और कार्य में व्यस्तता के बावजूद, घर-परिवार के प्रति जिम्मेदारियों को भी नहीं भूले थे। आपने तारघर से तार भिजवा दिया कि अत्यधिक व्यस्तता के कारण घर लौटना संभव नहीं है। हालांकि तारघर के फासले के मुकाबले आपका घर आधे ही फासले पर था, लेकिन जिम्मेदारी दूरियों की परवाह नहीं करती!

सुबह-सवेरे, ज्यादा इंतजार कराये बिना, महापुरुष घर पहुंचे, जहां एक औरत की लाचारी ने आंसुओं से आपका स्वागत किया। महापुरुष ने स्वच्छ हृदय से गायत्री-जाप किया। पवित्र अश्रुकणों की सौगंध खाकर नारी के सम्मान की रक्षा का वचन दिया और तीन बार

पत्नी की परिक्रमा के बाद ही दोषमुक्त हो पाये। दोषमुक्त ही क्यों, अगले एपिसोड के लिए भी छूट प्राप्त की। एक होलटाइमर प्रेमी और पार्ट-टाइमर पति के कर्त्तव्य को पूरा करते हुए आपने प्रेम की समांतर धारा विकसित की, जिसने आगे चलकर आंदोलन का रूप धारण किया। आप जब भी, जितनी देर के लिए, जिसके भी साथ रहे, वफादारियों में कमी न आने दी।

पत्नी की परिक्रमा का बदला महापुरुष ने आम आदमी से चुकता किया। आम आदमी, खुद को चुसवाने के लिए, मैनपुरी से लेकर मुंबई तक खास आदमियों की परिक्रमा करता रहा। चार दशकों की लंबी अवधि में जिस प्रस्थान बिंदु से उसकी यात्रा शुरू हुई थी, अंत में उसी बिंदु पर आकर उसने दम तोड़ दिया। इस प्रक्रिया से जो तेल और खली प्राप्त होती रही, उसने आपकी महत्वाकांक्षा को बढ़ा कर बांस पर टांग दिया। इसी खासियत की वजह से आम आदमी का जीवन सार्थक और खास आदमी का निरर्थक होता चला गया।

खास आदमी दूसरे ख़ास आदमियों की तरह ही आम था। उसकी आमियत यह थी कि वह जितना कमाता था, उतना ही और गरीब होता जाता था। जीवन का कोई भी अर्थ उसकी पकड़ में नहीं आ पा रहा था, जबकि 'अर्थ' पर ही उसकी पकड़ थी। लेकिन हिंदी का पीत-पत्रकार होने के कारण वह बेचारा खुद भी आम आदमी होने की खुशफहमी पाले रहा। दो नावों पर सवार इस महापुरुष की हिम्मत तो देखो!

(क्षेपक : महापुरुष की गौरवगाथा का पूर्व भाग यहीं समाप्त होता है। उत्तर गाथा का संबंध इसी के समांतर एक दूसरी कहानी से है। दूसरी कहानी मुंबई में बहुत पहले दफन हो चुके 'समांतर कहानी आंदोलन' की कब्र से निकाल कर लायी गयी है, लेकिन लेखक का नाम और कहानी का शीर्षक, जो शायद किसी अलग पन्ने पर रहा हो, हमें अभी तक मिल नहीं पाया।)

संवत् १६८०, अस्सी घाट, वाराणसी।

('काशी के अस्सी' से इस कहानी का कोई संबंध नहीं है। अनुमान है कि काशीनाथ सिंह का जन्म तब नहीं हुआ होगा!)

बादशाह अकबर के दरबार में दो रत्न जिला बिजनौर के बाशिंदे थे- अबुल फजल और फैजी। दोनों ही विद्वान थे, लेकिन इनसे भी बड़े विद्वान, साथ ही महाकवि, उन दिनों वात रोग से पीड़ित थे और दर्द से कराहते हुए अक्सर काशी के अस्सी पर देखे जाते थे।

सांझ का समय था। सूरज डूबने में बांस भर का फासला रह गया था। तभी महाकवि के सामने से सांवले रंग की एक भव्य मूर्ति गुजरी, जिसके माथे पर लंबा-सा तिलक और कंधे पर धनुष था। किसी को भी तो मालूम न था कि यह आदमी ही भगवान राम हैं। लेकिन महाकवि ने ताड़ लिया और तुरंत छह शब्दों का एक वाक्य भगवान की पीठ पर दाग दिया, "मो सम कौन कुटिल खल कामी!"

इन शब्दों को सुनते ही भगवान के चरण ठिठक गये। वापस मुड़ कर महाकवि से कहा, "अरे, हम तो तुम्हें संत-महात्मा मान कर 'इग्नोर' करते रहे, लेकिन तुम तो काम के आदमी मालूम पड़ते हो। अगर तुम्हारा यही परिचय है तो यहां क्या कर रहे हो? तुम्हें आगरा में होना चाहिए... अगर वहां जगह न मिले तो पास ही मैनपुरी है। तुम अभी वहां जाओ।"

"प्रभो! चला तो जाऊं, लेकिन मुझे तो वात रोग है- मेरे घुटने मुड़ते नहीं और 'सरवाइकल स्पांड्लाइटिस' की वजह से मैं गरदन भी झुका नहीं सकता। आप मुझे अपनी ही शरण में ले लीजिए ... बादशाह के दरबार में मेरी कद्र कौन करेगा!"

"असंभव!" भगवान ने रुष्ट होते हुए कहा, "उद्धार करने के लिए हम स्वयं ही कुटिल, खल और कामी की तलाश में रहते हैं, लेकिन तनी हुई गरदनें और अकड़े हुए पैर तो हमें भी बर्दाश्त नहीं।"

"क्षमा करें, प्रभु! मेरी अकड़ रोग के कारण है- वैसे आदमी मैं विनम्र हूं। कृपया आप अन्यथा न लें," इन शब्दों के साथ महाकवि ने श्री राम के पैर पकड़ लिये।

भक्त के आगे भगवान की एक न चली और विवश होकर उन्होंने अपनी भोज-पत्रों वाली चैक बुक निकाली और आठ-दस चैक एक साथ काट दिये-

-हे वत्स, बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में तुम आंखें खोलोगे और उत्तरार्ध में छटाएं बिखेरते हुए पूर्णता प्राप्त करोगे।

-तुम्हारी नेतागिरी में संयुक्त मोर्चे टूटने के लिए बनेंगे और बनने के लिए टूटते रहेंगे।

-गणतंत्र दिवस पर तुम्हारी उद्घोषणाएं गुलामों को आजादी का विश्वास दिलाएंगी।

-अपनी आंधी में उड़ कर तुम इंदिरा गांधी तक पहुंचोगे और टीवी के निदेशक का पद ग्रहण करोगे।

-हरित और श्वेत क्रांतियों के पश्चात् मल्टीकलर क्रांति होगी, तभी आम आदमी से तुम्हारा मोहभंग हो जायेगा।

-तुम्हारे भाषणों को सुनते हुए लोग मंद-मंद मुसकराएंगे। तुम जो भी लिखोगे और जो भी बोलोगे- वह किसी स्टंट फिल्म का धांसू डॉयलॉग होगा।

-तुम्हारी 'आत्मकथा' की सच्चाइयों पर किसी को भी यकीन न आ पाएगा।

-जब तक 'जागरण' के साथ मिलकर तुम्हारा जन-जागरण चलेगा, तब तक तुम्हारा प्रतिद्वंद्वी एक नींद निकाल चुका होगा। जब वह हड़बड़ा कर उठ पाएगा, तब तक तुम करोड़पति से करोड़ोंपति हो चुके होगे।

-जब तुम्हारे प्रतिद्वंद्वी के सीने पर सांप लोट जाएगा और उसके मुंह से उच्छ्वास के साथ यह उद्गार निकलेगा- 'अबे, यह तो साला बाजी मार ले गया!' तब हे वत्स, तुम्हें कितनी प्रसन्नता होगी!

भगवान पर भक्त का पूरा विश्वास- महाकवि ने वे चैक बिना देखे ही रख लिए। और जब एकांत में उन्हें देखा तो वे सिर पकड़ कर बैठ गये। सभी वरदान साढ़े चार सौ साल बाद मैनपुरी के किसी महापुरुष के खाते में जाने थे! वह समझ नहीं पा रहे थे कि वे वरदान थे या अभिशाप... □

देवेंद्र सिंह

लेखकीय सरोकारों के प्रति सजग लेखक के विचार

एकता संभव है मगर ...

मैं लेखक संगठनों की एकता के इस प्रस्ताव से पूर्ण सहमति व्यक्त करता हूं कि 'तीनों लेखक-संगठनों को विसर्जित कर, साझा लेखक-संगठन' बनाया जाय। यह भी मानता हूं कि यही समय की मांग है। कुछ-कुछ इसी प्रकार की कामना मैं भी आने भीतर पालता रहा हूं। अतएव, आपका प्रस्ताव मुझे अपना ही प्रस्ताव लगता है।

रचनात्मकता को आधार बनाकर यदि हम तीनों संगठनों को देखते हैं तो समझना मुश्किल हो जाता है कि इनके अलग-अलग होने के पीछे कौन से तुक-तर्क हैं। कहना नहीं होगा कि तीनों के साथ अनेक रचनाकार जुड़े हैं। अब यदि तीनों सेटों में से स्तरीय रचनाएं लेकर उनका पाठ करते हैं तो यह बताना नामुमकिन हो जाता है कि उनमें कौन 'प्रलेस रचना' है, कौन 'जलेस रचना' और कौन 'जसम रचना' तथापि, मुझे लगता है- यह प्रस्ताव एक 'विशफुल थिंकिंग' भर होकर रह जाने वाला है। बेशक, यह दुखद है, मगर सच यही है।

ये तीनों लेखक-संगठन तीन वाम दलों की साहित्यिक शाखाएं हैं, जैसे मजदूरों, महिलाओं, छात्रों, नौजवानों आदि के संगठन भी हैं। वैसे भाषणों में और लेखकों के दबाव पर पारित प्रस्तावों में भी यदि अंकित किया जाता है कि संगठन किसी 'पार्टी का घटक नहीं है' तो उसे झूठ माना जाय। इसका प्रमाण है कि संगठनों की सभी शाखाओं के प्रमुख पदों पर प्राय: पार्टी सदस्य ही रहते हैं। सच यही है कि तीनों लेखक-संगठन तीनों दलों के 'घटक' हैं। मैं नहीं समझता कि आदरणीय मैनेजर पांडेय इतने भोले हैं कि इस बात को नहीं जानते समझते हैं।

ऐसे में तीनों दलों की एक-एक शाखा को काटकर अलग कर लेना और उनका एक मजबूत गट्ठर बना लेना उतना आसान नहीं होगा। इससे अधिक सुगम (संगत तथा संभाव्य भी) प्रस्ताव वह है कि तीनों वाम दलों को मिलाकर एक 'कंफेडरेशन' बनाया जाय। बार-बार दिये गये उस प्रस्ताव का क्या हश्र हुआ, हम जानते हैं। बेशक तीनों दलों के बीच मतभेद है- सिद्धांत और अमल दोनों ही स्तरों पर। हालांकि वहां भी नेतृत्व के सामंती सोच-संस्कार ओर मध्यवर्गीय चरित्र टूट तथा बिखराव के लिए अधिक जिम्मेदार लगते हैं, वरना भारत में कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन जितने दलों तथा गुटों में हुआ (कि उनकी ठीक से गिनती करना भी कठिन है), वैसा विश्व में और कहीं नहीं हुआ। इसके कारणों की खोज होनी चाहिए। बहरहाल, अलग-अलग होते हुए भी एक मूल तत्व सब में समान हैं और वह है- विचारधारा। कह सकते हैं सभी एक ही पिता की संतानें हैं। मगर बंटे हुए भाई हैं।

हमारी मातृभाषा अंगिका में एक मजेदार, मगर उतनी ही अर्थगर्भित, लोकोक्ति है-'बांटलड भाय पड़ोसिया'। मतलब, भाइयों के बीच जब बंटवारा हो जाता है तो वे एक-दूसरे के भाई नहीं रहते, पड़ोसी बन जाते हैं- सबसे खराब और खतरनाक दुश्मन। ठीक वही हाल इनका है। ये भाजपा के साथ 'गठबंधन' कर सकते हैं। कांग्रेस और राजद के साथ मिल-बैठकर काम कर सकते हैं। मगर आपस में नहीं मिल सकते। समय तथा परिस्थितियों के दबाव में आकर कुछ साझा कार्यक्रमों में मिलकर काम करते भी हैं तो भीतर से फांक-फांक ही रहते हैं। प्रश्न उठता है, इस बिखराव की अवस्था में क्या वह उस महाशक्ति से टकराने की स्थिति में हैं?

अपनी बात को पुष्ट करने के लिए एक किंचित इतर प्रसंग लाने की इजाजत चाहता हूं। बिहार में महाविद्यालय शिक्षकों के दो महासंघ हैं। बिहार राज्य विश्वविद्यालय शिक्षक महासंघ और बिहार राज्य विश्वविद्यालय सेवा शिक्षक महासंघ। इन दोनों महासंघों को मिलाकर एक करने के प्रस्ताव समय-समय पर आते रहे हैं। पर, आज भी दोनों अलग-अलग हैं। अलबत्ता, दोनों संगठन ऊपर से नीचे तक एक संयुक्त मोर्चा बनाकर काम करते हैं। दोनों की एक समन्वय समिति है।

वैसा ही एक 'संयुक्त मोर्चा' बनाकर तीनों लेखक संगठन भी काम करें, यह हमारे समय तथा समाज की जरूरत है। ऐसे कुछ (शुभ) लक्षण दिख भी रहे हैं। अतएव, आपके प्रस्ताव में हल्का-सा संशोधन पेश करते हुए निवेदन करना चाहता हूं कि पहले चरण में एक संयुक्त मोर्चा बनाने की पहल हो। तीनों संगठनों की एक संयुक्त समन्वय समिति गठित हो और उसी के बैनर तले सारी लड़ाई लड़ी जाये। यह एका 'प्रगतिशील' लेखकों, संगठनों और सर्वोपरि-विचारधारा के लिए भी आवश्यक है।

प्रगतिशील लेखकों की व्यापक एकता के लिये जो 'कुछ जरूरी सुझाव' आपने पेश किये हैं, उनसे मेरी पूर्ण सहमति है। उनमें कुछ जोड़ा घटाया जा सकता है। पर, वह दूसरे चरण का काम है। □

विशिष्ट लेखक

कृष्णा सोबती

जन्म : 18 फरवरी, 1925 गुजरात में

शिक्षा : शिमला, लाहौर, दिल्ली में

प्रकाशित रचनाएं

उपन्यास- डार से बिछुड़ी, मित्रो मरजानी, सूरजमुखी अंधेरे के यारों के यार, तिन पहाड़, जिंदगीनामा, ऐ लड़की, दिलो-दानिश, समय सरगम,

कहानियां- बादलों के घेरे

अन्य- सोबती : एक सोहबत, हम हशमत-1, हम हशमत-2

सम्मान और पुरस्कार

- साहित्य अकादमी पुरस्कार *जिंदगीनामा* के पहले भाग *जिंदारुख* पर
- शिरोमणि पुरस्कार
- प्रथम कथा चूड़ामणि पुरस्कार
- शलाका सम्मान, हिंदी अकादमी
- साहित्य अकादमी का उच्चतम सम्मान- महत्तर सदस्यता
- मैथिलीशरण गुप्त सम्मान
- सद्भावना सम्मान
- नेशनल फैलो, उच्चतम अध्ययन संस्थान, शिमला
- शतदल सम्मान भारतीय भाषा परिषद

संप्रति : दिल्ली में रह कर स्वतंत्र लेखन

संपर्क : 505 बी, पूर्वाशा, आनंदलोक सोसायटी, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091

मेरी कथायात्रा

अपनी साहित्यिक यात्रा में मुझे न किसी को पछाड़ने की फिक्र रही और न किसी से पिछड़ने का आतंक। इरादा सिर्फ इतना कि लिखते रहो, अपने कदमों से बढ़ते रहो, अपनी राह पर। जो देखा है, जाना है, जिया है, पाया है, खोया है, उसके पार निगाह रखो। एक व्यक्ति के निज के आगे और अलग भी एक और बड़ी दुनिया है। उसे मात्र जानने की नहीं, अपने पर उतारने की समझ जगाओ। तालीम बढ़ाओ। फिर जो उजागर हो, उसे समेट लो! याद रहे यह कि जो तुम हो, उसे ही संवेदन का मानदंड समझ लेना काफी नहीं। जो तुमने झेला है, संघर्ष उतना ही नहीं। अपनी सीमाओं और क्षमताओं पर आंख रखते हुए- सफल और विफल के झमेलों को भूल, अथक परिश्रम और चौकसी ही कृतित्व को कृतार्थ करती है। अपने पांव तले की एक छोटी सी ज़मीन पर खड़े होकर, एक बड़ी दुनिया से साक्षात्कार करती है। लेखक में प्रतिभा कितनी है- इसे जांचने-मापने का काम आलोचक के जिम्मे है।

पाठक की उपस्थिति मेरी लिखत को, मेरे पाठ को निगाह देती है, मेरे शब्दों को अर्थ। पंक्तियों के पीछे से सिर उठाती खामोशियां पाठकों द्वारा ही समझी-बूझी और पहचान ली जाती हैं। कृति की तौफीक पाठक की आंख से जुड़ी है। मेज पर लिखे जाने वाले पाठ की प्रतीति और लेखक द्वारा की जाने वाली व्यक्तिगत दखलंदाजी के लिए पूरी सावधानी और अगर परिणाम ठीक-सा हो तो मैं उसे रचना का ही पुरस्कार समझती हूं। रचना महज अपने वजूद में लेखक द्वारा लिखी जाने भर से ही उसके अनुशासन को नहीं गरदानती। साहित्य के अपार संचित भंडार के बाहर खड़ा एक अदना सा लेखक सृजनात्मक ऊष्मा और ऊर्जा को कैसे निहारता है, संवारता है, अपने प्राचीनों को कैसे स्वीकारता है, अपनी अगली पीढ़ी को कैसे पड़तालता है, यह सब भी उसकी टटोल और अभिव्यक्ति से जुड़ा है। उसका गहरा अंग है। लेखक होना सहज लगता है पर वह उतना आसान नहीं। लेखक अपनी निज की दुनिया के बरक्स एक बड़ी दुनिया को अपने में समेटे रहता है। अपनी अंतरंग सीमाओं और क्षमताओं को एक बड़ी दुनिया के पक्ष में खड़ा करता है। यही प्रक्रिया उसे व्यक्ति के सीमित अस्तित्व से उबार कर समाज, समय और देशकाल से जोड़ती है। मानवीय मूल्यों से जोड़ती है।

भाषा की संयमित चुनौती एक साथ स्पष्ट और घुलनशील होकर विचार की सघनता को मुखड़ा देती है। उसे बरकरार रखती है। विचार, भाव, संवेदन, जो कुछ भी रचना में घट रहा है, वह किसी स्वप्न-बिंब की तरह चेतन और चित्त-शक्ति में आंखों के आगे दृष्टि और दृष्टा दोनों को प्रस्तुत करता चला जाता है। यदि लेखक के पास सीमित अल्प दृष्टि है, अनुभव की कमी है तो कमजोरी को जानकारियों से उपजी दक्षता भी नहीं ढांप सकती। पाठ की रचनात्मक प्रस्तुति मात्र शब्दों के शब्दकोशी हवालों से नहीं, कथ्य के गहन संस्कार और सहज साधारण की टकराहट और मुठभेड़ से ही उपजती-उभरती है। लेखक को अपनी इस द्वंद्वात्मक कशमकश को संचित कर अपने को गौण समझना होता है। इसके बावजूद किसी एक क्षण में कुछ महत्वपूर्ण भी घटित होता है, जब लेखक लेखक नहीं रहता और रचना मात्र रचना नहीं रहती।

यह कटावदार मोड़ नितांत दुर्लभ होता है और खतरों से भरा हुआ। जरा चूके तो गये। स्वयं जिया हुआ, अनुभव किया हुआ, पहले हाथ का कच्चा या पक्का माल ही लेखक की सहज सघनता और संपन्नता का स्रोत नहीं। बहुत कुछ ऐसा भी है, जो लेखक की आंतरिक क्यारी से हरियाता है। उसका बीज और पौध वहीं सुरक्षित है। □

मूल्यांकन

अजय तिवारी

शिखर संभावना से गर्भित समालोचक द्वारा अप्रतिम कथाकार कृष्णा सोबती के सृजन का अवगाहन

कृष्णा सोबती : चौखटों को तोड़ने की आकुलता

कृष्णा सोबती के विषय-चुनाव में सादगी और साहस है, चरित्र-निर्माण और कथागठन में यथार्थवाद है तथा रचनादृष्टि और संवेदना जनतांत्रिक है। उनका अनुभव-संसार व्यापक है लेकिन संसार का अनुभव करने के लिए उनके पास नारी माध्यम है। स्वभावत: वंचना और पीड़ा के प्रति उनके कथा साहित्य में सहज झुकाव है। कभी-कभी आश्चर्य होता है कि 'उपेक्षित' इतिहासकारों ने जो पद्धतियां आडंबरपूर्वक प्रतिष्ठित कीं, उन्हें कृष्णाजी ने शांत भाव से खोजा और अपनाया है। अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'जिंदगीनामा' में उन्होंने शासकवर्गीय इतिहास और जनइतिहास की जैसी टकराहट चित्रित की है, वह हिंदी कथाशिल्प में नयी दस्तक है। बड़ो बात यह है कि 'उपेक्षित' इतिहासकारों की तरह कृष्णाजी अंग्रेजी-ज्ञान तक सीमित नहीं हैं, वे जनसमाज के इतिहास को जनभाषा में ही पाती और देती हैं। कभी-कभी राही मासूम रजा की तरह कृष्णाजी की भाषा पर भी नाक-भौं सिकोड़ी जाती है। लेकिन कृष्णाजी का रचनात्मक उसूल यह है कि "जिस तरह आप अपने रचना-संसार के लिए जीवन से कच्चा माल उठाते हैं- स्थान, पात्र, वातावरण का चुनाव करते हैं और अपनी दृष्टि-विशेष के घोल में उनकी संवेदनाओं को डुबोकर उनकी ही ट्रांसपेरेंसीज प्रस्तुत कर देते हैं- बिलकुल् उसी तरह की प्रक्रिया शब्द और भाषा की भी है।" (चंद नोट्स जिंदगीनामा पर, सोबती एक सोहबत पृ. 375) बेशक, यह उसी रचना का उसूल है जो स्थान, पात्र, वातावरण यानी कच्चा माल जीवन से लेती है।

अपने साहसी विषय-चुनाव और उद्दाम चरित्रों के लिए भी कृष्णाजी पहचानी जाती हैं। खासकर नारी चरित्रों के लिए और स्त्री जीवन की अछूती समस्याएं उठाने के कारण। इधर जबसे 'उपेक्षित' इतिहास-दृष्टि ने साहित्यिक विमर्शों में जगह बनायी है, तबसे कृष्णा सोबती की रचनाओं को भी स्त्री विमर्श के संदर्भ में देखा जाने लगा है। लेकिन कृष्णाजी कोई पूर्व निश्चित सिद्धांत लेकर कथादृश्य नहीं रचतीं। वे जीवन के दृश्यों और संबंधों में निहित सांचे देखती हैं और वहां यातना के रूपों और स्रोतों को उजागर कर देती हैं। इसीलिए स्त्री विमर्श के फार्मूलों से उनकी रचानाओं को जांचने पर निराशा होती है। ऐसी ही निराशा में एक सज्जन ने लेखक-पाठक संवाद में कृष्णाजी से पूछा कि "आपकी नायिकाएं विद्रोही होती हैं, लेकिन वे क़भी घर नहीं छोड़तीं। क्यों, क्या उनका विद्रोह झूठा है?" कृष्णाजी ने उत्तर दिया, "घर छोड़ने से पहले बहुत सारी तब्दीलियां होनी होती हैं और घर न छोड़ना भी बदलाव का एक रूप होता है।"

(प्रगतिशील आकल्प, मुंबई, जुलाई-सितंबर 2003, पृ-16)

यही कारण है कि कृष्णा सोबती का सबसे विलक्षण और चुनौतीपूर्ण पात्र मित्रो (मरजानी) शारीरिकता से ऊपर उठती है, तब पारिवारिकता का अंग बनती है। घर न छोड़ने का अर्थ है- परिवार के ढांचे में मानवीय संबंधों और संवेदनाओं की प्राप्ति। घर छोड़ने का अर्थ है- परिवार में विषमतापूर्ण संबंधों की यातना। पारिवारिक संबंधों से विषमता दूर करके ही मानवीय सार्थकता पायी जा सकती है। लेकिन समाज विविधतापूर्ण मानव-संस्था है। कोई बना-बनाया फार्मूला सर्वत्र काम नहीं आता। मित्रो, रत्ती (रतिका), महक और कुटुंब सभी स्त्री चरित्र हैं। उनमें अपार विविधता है। न उनका व्यक्तित्व एक जैसा है, न उनकी परिस्थितियां एक जैसी हैं, न उनकी यातना एक जैसी है। इसलिए उनकी परिणति भी एक जैसी नहीं है। इन पात्रों की विविधता से यह भी समझ में आ जाता है कि अनेक स्त्रीवादियों की तरह कृष्णा सोबती के पात्र उनके निज का रूपांतर नहीं हैं। देश, काल, संबंध और समस्या की तरह पात्र भी जीवन के विस्तार में से चुने गये हैं। कहा जा सकता है कि कृष्णा जी का अनुभव-लोक स्वतंत्रता के बाद और भूमंडलीकरण के पहले के कालखंड में फैला हुआ है। इस दौर के हिंदुस्तान में- खासकर पश्चिमी हिंदुस्तान में- कृष्णाजी ने जिन पात्रों को चुना है, उनमें रचनाकार का जीवन बोध और उद्देश्य बहुत निर्णायक हैं। इन पात्रों को आत्मीयता दे पाना साधारण साहस और कौशल की बात नहीं है। जीवनबोध, उद्देश्य और आत्मीयता के सांचे में ढलकर ये पात्र लेखक की पहचान बन जाते हैं। लेकिन वे लेखक का पर्याय नहीं हैं। जो पात्र रचनाकार के जीवन का रूपांतर होते हैं वे न अपनी छाप छोड़ते हैं, न लेखक की पहचान बनाते हैं। कृष्णाजी को अपने पात्रों के औचित्य-स्थापन का प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

अपने स्त्री चरित्रों के माध्यम से कृष्णाजी ने यातना के

विभिन्न रूपों को उभारा है, प्रतिरोध की मानवीय भूमि भी प्रस्तावित की है। जिन प्रश्नों के समाधान अभी समाज ने नहीं दिए, कृष्णाजी ने उन्हें काल्पनिक आदर्शवाद से नहीं सुलझाया। मानवीय स्तर पर उन समस्याओं का सामना करना भी प्रतिरोध ही है। इसलिए क्रांतिकारी विकल्प न देकर भी (या शायद इसी कारण) कृष्णा सोबती का कथा साहित्य प्रतिरोध की चेतना और जीने का विश्वास प्रदान करता है। जिस समाज में स्त्री को सिर्फ शरीर और शिकार बना दिया गया हो और उस समाज में परिवर्तन के आसार नहीं दिखते हों, उसमें एक महिला रचनाकार का प्रतिरोध जितना अनिवार्य हो जाता है, उतना ही जटिल भी। कृष्णा सोबती के चरित्रों को इसी सामाजिक संदर्भ में लेखक की संवेदनशीलता और उत्तरदायित्व के रूप में देखना पड़ेगा। उनके चरित्रों की यातना को न देखना और उनकी परिणति को महिला-लेखन के फार्मूले से जांचना वास्तव में उस यातना के प्रति संवेदनहीनता का उदाहरण होगा। लेखिका ने ऐसी ही संवेदनहीनता को उजागर करने में अपनी सारी शक्ति लगायी है।

मित्रो मरजानी की मित्रो केवल शरीर है। उसे न प्रेम का पता है, न धन-दौलत-जेवर का लोभ है। उसकी शारीरिकता को डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने 'आदिम कुंठाहीनता' कहा है। (कुछ कहानियां: कुछ विचार, पृ. 77) इसके विपरित *सूरजमुखी अंधेरे के* उपन्यासिका की रत्ती (रतिका) बचपन में यौनहिंसा का शिकार हो चुकी है और तब अपनी शारीरिकता का निषेध करने की हद पर जीती है। वह मनोवैज्ञानिक कुंठा का बेहद जटिल प्रतिरूप है। डॉ. त्रिपाठी का यह कथन उतना उचित नहीं लगता कि *सूरजमुखी अंधेरे के* की नायिका की असामान्यता इकहरी है। वह अंत तक असामान्य ही बनी रहती है।'' (उपर्युक्त, पृ.82) मित्रो की शारीरिकता और रत्ती के शरीर-निषेध दोनों की जड़ में एक ही कारण है- पुरुष वर्चस्व प्रेम का निषेध है। प्रेम बराबरी का संबंध है। रत्ती पर पुरुष वर्चस्व का अर्थ है नैसर्गिक संबंधों में सामाजिक विषमता का प्रवेश। प्रेमरहित संसार के दो प्रतिरूप हैं मित्रो और रत्ती।

मित्रो की शारीरिकता उसकी अस्मिता नहीं, यातना है। मित्रो के अकुंठ व्यवहार से उसकी जिठानी को लज्जा आती है। मित्रो अपनी छातियां ढंक कर कहती है, ''सच कहना जिठानी सुहागवंती, क्या ऐसी छातियां किसी और की भी हैं!'' स्त्री को इसी रूप में पुरुष देखता आया है। जब स्त्री अपने को उसी रूप में देखती है तो बद्ध संस्कार आहत होते हैं। मित्रो अपनी कुंठाहीनता में दूसरों की कुंठा उजागर करने वाला पैमाना ही नहीं बनती, बद्ध संस्कारों के लिए चुनौती भी बन जाती है। उसकी शारीरिकता भी बद्ध संस्कारों का ही एक रूप है। वह उसकी अपनी खोज नहीं है, स्त्री को शरीर (नख-शिख) में बदल देने वाले पितृसत्तात्मक समाज का आरोपण है। अपने पति सरदारी लाल के प्रति जब वह एकनिष्ठ समर्पण करती है, तब वास्तव में इस आरोपित व्यक्तित्व से छूटकर अपनी सार्थकता अर्जित करती है। विमर्शवादी उपेक्षिताएं घर और संबंध को तोड़कर-शारीरिकता के धरातल पर- सार्थकता अर्जित करती हैं। मित्रो इसके उल्टे रास्ते पर चलती है। वह शारीरिकता से छूटकर समर्पण और प्रेम तक जाती है। शारीरिकता पुरुष वर्चस्व का साधन है, प्रेम वर्चस्व का निषेध है।

रत्ती का आत्मनिषेध भी मित्रो की तरह उसकी अस्मिता नहीं, यातना है। मित्रो की मां 'सच्चरित्र' औरत नहीं है। ''तवे-सी काली मेरी मां ओर मैं गोरी-चिट्टी उसकी कोख पड़ी। कहते हैं इलाके के बड़भागी तहसलीदास का मुहावरा है मित्रो।'' लेकिन रतिका संभ्रांत मध्यवर्ग की लड़की है। मां-बाप शिक्षित संस्कारी हैं। वह संस्कारवान बच्चों के साथ स्कूल में पढ़ती है। डॉक्टर की लड़की डिंपी, पिक्कू, अज्जू, श्यामली हर बच्चा कहता है, ''तुम बुरी लड़की हो। तुम्हारी चड्डी में खून लगा रहता है।'' जिस अपराध की जिम्मेदार रत्ती नहीं है, उसकी सजा उसे मिलती है। यह पुरुष वर्चस्व का 'संभ्रांत' संस्कार है। रत्ती एक तरफ अपने समाज के लिए बच्चों से लड़ती है, दूसरी ओर अपराध-बोध का शिकार और अंतर्मुखी होती जाती है। बचपन से ही उसके स्वभाव में बहुत-सी जटिलताएं पैदा हो जाती हैं।

मित्रो 'बुरी लड़की' है लेकिन उसमें पापबोध नहीं, रतिका बुरी लड़की नहीं है लेकिन उसमें पापबोध है। मित्रो और रतिका कोई भी अपनी स्थिति के लिए स्वयं जिम्मेदार नहीं हैं। कृष्णा सोबती की खूबी यह है कि चरित्रों को उनकी परिस्थिति और मनोविज्ञान के संश्लिस्ट ताने-बाने में जीते-जागते जीवन-दृश्य के रूप में उपस्थित करके वे अपने पाठक के विवेक और सहृदयता पर भरोसा करती हैं। आचरण की नैतिकता मानवीय सार्थकता में है। नैतिकता कोई रूढ़-स्थिर सिद्धांत नहीं है, जिसके चौखटे में धड़कती हुई जिंदगी का दम तोड़ देना श्रेयस्कर हो। मित्रो सरदारी लाल के प्रति समर्पित होकर सार्थकता पाती है, रतिका अपने मित्र दिवाकर के प्रति समर्पित होकर सार्थकता का बोध प्राप्त करती है। रूढ़ अर्थ में यह शरीर-मिलन है, समर्पण नहीं; क्योंकि दिवाकर पहले से विवाहित है। मित्रो की शारीरिकता अगर प्रस्तरीभूत कर देने वाले संस्कारों की यातना का प्रतिरूप है तो रतिका का आत्मनिषेध हिंसक पुरुष-सत्ता के अपराधों से अपनी यातना का प्रतिरूप है। सामाजिक संस्कार दोनों के प्रति क्रूर हैं। क्रूरता यह है कि यातना को ही उत्सव या पाप बनाकर उत्पीड़ित की मनुष्यता को कुचल डालने का प्रयास किया जाता है। इन सामाजिक सस्कारों के बीच बहुत कुछ अकेले संघर्ष करते हुए मित्रो और रतिका अपनी-अपनी सार्थकता प्राप्त करती हैं। यह अकेलापन उन चरित्रों की नियति भी है और रचनाकार का दृष्टिकोण भी। इसीलिए कृष्णाजी के चरित्र बहुत कुछ असामान्य लगते हैं। लेकिन महत्वपूर्ण यह है कि उनके चरित्र क्रूरता के शिकार होकर भी जहां के तहां नहीं रहते। यह प्रतिरोध की आकांक्षा है जो अकेलेपन के ढांचे में भी विकल्प की खोज में ले जाती है।

कृष्णा सोबती की कला का यह गुण महत्वपूर्ण है कि

उनके एकाकी पात्र भी अनेक स्थितियों और चरित्रों से उलझते हैं। इन सबका सूक्ष्म प्रभाव चरित्रों के विकास पर पड़ता है। हर स्थिति से संतुष्ट रहने वले चरित्रों में कृष्णाजी को कोई संभावना नहीं दिखती। संतोष यथास्थितिवाद का पोषक है। ''जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान।'' यह मध्यकाल की संत नैतिकता है। क्रूरता और यातना से भरे वर्तमान युग में संतुष्ट प्राणी न अपनी स्थिति से विद्रोह करता है, न समाज की परिस्थिति से। मित्रो असंतुष्ट है, क्योंकि वह देह की प्यास में मछली-सी तड़पती है और सरदारी लाल 'हफ्ते-पखवारे' वाले हैं। रत्ती असंतुष्ट है क्योंकि उसके सभी मित्र- जगधर, रंजन, रोहित, बाली, डेविड, भानु राव, सुब्रमनियम, राजन, श्रीपत- उसे शरीर से पाना चाहते हैं और सफल न होने पर उसके स्त्रीत्व को अपमानित करते हैं। बचपन की घटना में उसका शरीर ही अपराध का कारण बना था। वह इस शरीर को झुठलाती, भुलाती, कुचलती है। उसके लिए संबंध केवल उपयोगिता और उपलब्धि नहीं है, ''पाने के लिए दोनों को एक-दूसरे को चाहना होता है, रोहित।'' लेकिन उसके 'दोस्त' नाउम्मीद होकर नफरत जताते हैं, ''जो सालों-साल तुम्हारे कीमती हाथों को चूमता रहे, मैं वह नहीं हूं।''

निपट उपयोगिता से आगे भावनात्मक संबंध खंडित, आहत और बुझी हुई स्त्री की मानवीय आकांक्षा हैं। इस आकांक्षा में उसके आत्मदमन के पीछे छिपे जीवित अंकुर की झलक मिलती है। इसलिए चरित्र या मनोविज्ञान इकहरा नहीं है। उसे व्यक्त करने वाला कथा-विन्यास भी इकहरा नहीं है। *मित्रो मरजानी* के बारे में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है : ''मित्रो में सिर्फ जवानी या शरीर की तपन ही नहीं, ...जवानी को कहां पहुंचना है- यह भी है। बालो ठंडी भट्ठी बन चुकी है। इस जवानी और बुढ़ापे के साथ बचपन भी है।'' (कुछ कहानियां : कुछ विचार, पृ.79) रत्ती के साथ काल की परतें और सघन हैं। उसके सघन मानसिक विन्यास के अनुरूप। अत्याचार से घायल, तानों-लांछनों से अपमानित उसका बचपन है; शराब, दोस्त: अपराधबोध और आत्मदमन से भरा यौवन है, यह यौवन धीरे-धीरे छूट रहा है : ''दर्पण मं देखा। पुरानी इमारत। ढेर-सी क्रीम चेहरे पर बिछा ली।'' काल की परतें उसके भीतर हैं, बाहर भी हैं। शिमला में केशी और रीमा के साथ उनका छोटा-सा बच्चा कूमू भी है, जिसे गोद में लेकर रतिका गरमाहट अनुभव करती है, ''अलकोहल की गरमाहट से बिलकुल अलग-अलग।'' इसी रतिका के लिए उसके एक नाउम्मीद दोस्त कहते हैं, ''यह तो बता लड़की, तू क्यों इतनी ठंडी है?''

काल की अनेक परतों में टांकी हुई स्थिति काल में व्याप्त हो जाती है। वह ऐतिहासिक अनुभव बन जाती है। काल उस स्थिति को क्षणिकता से मुक्त कर देता है। स्थिति कितनी असहज-असामान्य हो, रतिका की भावदशा की तरह, काल की प्रक्रिया सहज-सामान्य है। इसलिए असहज-असामान्य को जांचने का पैमाना है, उसे समझने का और सही भावसंदर्भ में रखने का विवेक है। रतिका असामान्य है पर उसके प्रति रचनाकार का बोध असामान्य नहीं है। इसका कारण काल का वही बोध है जिसे डॉ. त्रिपाठी ने 'मित्रो मरजानी' की शक्ति माना है। काल की अनेक संश्लिस्ट परतें कथाशिल्प को भी स्थापित करती हैं। सहज संवादों में चलने वाले कथाप्रवाह को अंदर से जटिल बना देती हैं। फिर वह चाहे घटना-विन्यास हो या मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वन्द्व कथानक इकहरा नहीं रहता। चरित्र भी इकहरे नहीं रहते। मित्रो की तरह रत्ती दिवाकर से अंतरंग होकर अनुभव करती है, ''तुमने मेरा पाप धो दिया है, दिवाकर!'' ''उसके चेहरे पर आत्मादर की लुनाई'' आ जाती है। आत्मदमन से आत्मादर तक रत्ती का विकास होता है। यह विकास काल में स्थितियों की यात्रा है। स्थितियां ज्यों-त्यों स्थिरीभूत नहीं रहतीं। रतिका के प्रस्तुत व्यक्तित्व और रुपांतरित व्यक्तित्व का फासला तय करने वाला प्रेरणा-सूत्र उसका असंतोष है। प्रदत्त जीवन की शर्तों के अनुसार जीते हुए भी वह उन शर्तों से समझौता नहीं करती, उनके अनुसार ढलकर स्थिरीभूत नहीं होती।

ऐसा ही असंतोष *दिलो-दानिश* की कुटुंब का है। हालांकि वह मित्रो और रत्ती से भिन्न प्रजाति की है। उसके पति कृपानारायण खानदानी रईस और सफल वकील हैं। वकालत, जायदाद, संयुक्त परिवार की भारी-भरकम जिम्मेदारियां उठाते हैं। ''जिस्म को राहत चाहिए होती है। पर दिलो-दिमाग भी कुछ मांगते हैं।' यह मांग पूरी करती है महक, जो उनकी मुवक्किला नसीम बानो की बेटी है और अब उनकी दो संतानों- बदरू और मासूमा-की मां है। कुटुंब घर की मालकिन है। वकील साहब उसे नौकर-चाकर, सोने-गहने से भरपूर रखते हैं। महक अपनी मां के छोटे-से पुराने मकान में रहती है। खुद काम करती है। हैसियत ऐसी कि बच्चों को पढ़ा नहीं सकती, मकान का रखरखाव कर नहीं सकती। वेश्या नहीं है, रखैल है। मदद की कौन कहे, वकील साहब ने उसकी ज्यादातर संपत्ति मुकदमे में बेच डाली है और उसके जेवर भी अपने पास सुरक्षित रखे हुए हैं। प्रेम और संपत्ति के दोहरे धरातलों पर निर्मित-विकसित दिलो-दानिश का ताना-बाना बेहद जटिल है। इस जटिलता का तनाव हर चरित्र की रचना में मौजूद है।

कुटुंब केवल सुख-सुविधा से तृप्त नहीं होती। पति का प्रेम और अधिकार चाहती है। उसकी सास बउआजी समझाती हैं, ''कुछ बदलने वाला नहीं। जो हो रहा है, उसे नजरअंदाज करो।....देख पुच्ची, जो हमने देखा है, सहा है, कमोवेश वही तो तुम भी देखोगी और सहोगी।'' लेकिन कुटुंब में नयी चेतना के अंकुर हैं, जो पीढ़ियों से चली आती ज्यादतियां सहने को तैयार नहीं है। वह पुरानी प्रथाओं से घुटन महसूस करती है, ''बउआजी, अपनी गृहस्थी होते-हवाते नचनिया के यहां घर बसा लें।'' बउआजी इस पीड़ा की भुक्तभोगी हैं। नजरंदाज भले करें, पर अपने अनुभव से वे जान गयी हैं कि ''मर्द को गुमराह करने वाले फकत हुस्न और जवानी नहीं, उसकी कमाई भी है, जो उसे खुदमुख्तारी देती है। सोचो, घर में बैठी-बैठी औरत क्या करेगी? गहनों

की बकुची में से अक्ल की पुड़िया निकाल लेगी या भंडारघर से पैसा कमाने का तजुरबा समेट लेगी! हमसे पूछो तो घर की बहू जिंदगी भर या मर्द की सुनेगी या बेटों की। धर्मशास्त्र भी तो यही कहते हैं।''

बउआजी का दृष्टिकोण पंरपरागत अनुभव से बना है, कुटुंब का दृष्टिकोण अधिकार की नयी चेतना पर आधारित है। लेकिन दासता का अनुभव दोनों का यथार्थ है। यह अनुभव सजीव यातना है। इस यातना का कारण है पारिवारिक ढांचे की विषमता, स्त्री-पुरुष संबंधों की विषमता। इस विषमता का स्रोत है- आर्थिक सत्ता और श्रम विभाजन। वकील साहब पुरुष वर्चस्व की संपूर्ण चेतना के साथ 'बड़ी शायस्तगी से' कुटुंब को समझाते हैं: ''आपके लिए तो इतना ही कहा जा सकता है कि आप औरत हैं और आपको गृहस्थी बनाने-चलाने के लिए ही ऊपर वाले ने बनाया है।'' धर्मशास्त्र से लेकर ऊपरवाले तक सभी 'आध्यात्मिक' शक्तियां विषमतापूर्ण श्रम-विभाजन को बनाये रखती हैं और अपनी स्थिति को अपनी नियति (या सौभाग्य) मान लेने में स्त्री की सहायता करती हैं। मर्द की कमाई उसे खुदमुख्तार बनाती है। औरत कमाई नहीं करती। उपभोग करती है। केवल उपभोग पशु करते हैं। औरत की स्थिति पशु से बेहतर नहीं है। वह अपने स्वामी की गृहस्थी संभाले, उसकी संपत्ति के वारिस पाले, यह पशु से उसकी भिन्नता है। उतना ही उसे पशु से अलग दर्जा मिलता है। वह अपनी मर्जी से पुरुष की कमाई लुटाने का अधिकार रखती है- ''आपको कौन मना करता है। आप जितना चाहिए लुटाइये।'' इस तरह, प्रकृति-निर्मित भिन्नता को संपत्ति-संबंध दासता और विषमता में बदल देते हैं।

कुटुंब केवल लुटाने का अधिकार नहीं चाहती। पति का प्रेम चाहती है। वह इतनी अग्रगामी नहीं है कि खुदमुख्तार बनने की सोचे। वह रुठती है, लड़ती है, ताने देती है, बनाव सिंगार करती है, किसी तरह पति पर विजय नहीं पाती। अंत में बाबाजी की शरण लेती है। महक वकील साहब से चुटकी लेती है, ''अब क्या कहें! हमने खुद उन्हें मुंह अंधेरे भैरों बाबा की कुटिया से निकलते देखा है। एक बार नहीं, कई बार।'' भैरों बाबा उसे पति का अधिकार तो नहीं दिला पाते, हां, उसके वजूद पर अपना इतना अधिकार जरूर जमा लेते हैं कि ''तमाम रात हम अपने घर में नहीं, कहीं और ही भटकते रहे।... इन्होंने हिलाया तो हम इनका हाथ पकड़ फिर बाबा में खो गये।'' बाबा उसके अतृप्त जीवन को अपनी साधना से तृप्त करते हैं, ''देवी हमारा ध्यान करो। हम तुमसे दिशाओं का बंधन करेंगे। हम तुम्हारा ग्रंथन करेंगे। हमें अपने में संयोजित करो।''

पारिवारिक यातना, व्यभिचार, अंधविश्वास-मानव संबंधों को जकड़ने वाली ज्यादातर बीमारियों की वजह है विषमता। विषमता पर आधारित समाज में न संबंध सहज होते हैं, न मनुष्य मुक्त होता है। स्त्री आर्थिक रूप से स्वायत्त नहीं है लेकिन मनुष्य की भावनाएं उसमें भी हैं। सामाजिक गुलामी और मानवीय भावनाओं की कश-म-कश में असंतोष जन्म लेता है। कुटुंब, महक, बउआजी और कृपानारायण की बहन छुन्ना सभी में असंतोष के अलग-अलग रूप मौजूद हैं। परिणामस्वरूप सारे संबंध दांव-घात के संबंध बनकर रह जाते हैं। समाज जंगल बनता जाता है। कृष्णा सोबती इस प्रक्रिया को परखने के लिए परिवार की पृष्ठभूमि चुनती हैं। परिवार मनुष्य को पशु से अलग करने वाली संस्था है। वह व्यक्ति विस्तार और समाज का बीज है। विषमता और उससे उपजी मनोवृत्तियों ने परिवार को मानवीय संबंधों की संस्था नहीं रहने दिया है। प्रभा खेतान कहती हैं कि स्त्री का सबसे मजबूत दुर्ग परिवार है। कृष्णा सोबती उस परिवार को धुरी बनाकर जीवन के पेंचों को परखती हैं, उसे तिरस्कृत नहीं करतीं। यह स्त्रीविमर्श का स्वस्थ पहलू है।

सोबती एक सोहबत में *जिंदगीनामा-2 : कुछ अप्रकाशित अंश* दिये गये हैं। वे अंश *दिलोदानिश* का हिस्सा हैं। शायद बाद में उन्हें अलग उपनयास का रूप दिया गया है। कह सकते हैं *जिंदगीनामा* का सबानटर्न है *दिलोदानिश।* कृपानारायण के दिलो-दिमाग को दानिशमंद बनाने वाली महक परिवार का सबानटर्न है। वह कम असंतुष्ट नहीं है। लेकिन वह रखैल है, पत्नी का हक नहीं जता सकती। वकील साहब की अनुकंपा उसके जीवन का आधार है। इसलिए असंतोष को दबाकर उनकी खुशी का खयाल रखना उसकी खासियत है। यही खासियत वकील साहब को पत्नी से खींचकर बार-बार उसके पास लाती है। लेकिन वकील साहब की अनुकंपा का हाल यह है कि बच्चों की पढ़ाई और घर के रख-रखाव की कौन कहे, महीनों बाद पधारते हैं तो महक को बीमार देखकर दवा का बंदोबस्त करने की जगह मेवा-बादाम और मुरब्बा खाने की सलाह देकर अपना सरोकार जताते हैं। महक अपनी जरूरतों और अपेक्षाओं को दबाकर कहती है, ''आप अपनी छब दिखा गये। इतना ही काफी है।''

वकील कृपानारायण स्वतंत्रता के बाद रईसों की उस प्रजाति के हैं जो अपने पुरखों की तरह रखैल तो रखते हैं लेकिन आदर्शवादी वातावरण में रखैल के प्रति पुरखों जैसे कर्तव्य नहीं करते। उस पर पूंजीवादी संस्कृति का असर और पड़ गया है। कृपानारायण और महक की भावस्थितियों का फर्क इस संवाद में खूब उभरकर आया है :

जानम, घर के दरवाजों के पीछे हमेशा मोती-मरकत के अंबार नहीं हुआ करते। वहां बहुत कुछ तो खानापूरी के तहत ही होता रहता है।

ढपली की गत भांपकर महक बोली-आपसे भी क्या कहें हम! घर की चाहत के बारे में तो उन गरीबों से पूछिए जो ताउम्र सराय का दरवाजा पीटा करते हैं और घर कभी नहीं बना सकते।

दोनों दो दुनियाओं के वासी हैं। उनमें प्रेम संभव नहीं है। कुटुंब गृहस्थी संभालती है, महक दिलबहलाव करती है। खुदमुख्तार पुरुष को सेवक चाहिए। कृपा अपनी पत्नी के व्यभिचार से लापरवाह रह सकते हैं लेकिन रखैल के चरित्र पर शक जरूर करेंगे। खां साहब महक को सम्मान देते हैं लेकिन कृपा उनके संबंधों को निस्वार्थ नहीं मान

सकते। महक उनका सत्कार करते हुए भी अपने हितों को लेकर चिंतित रहती है। पूछती है, "क्या अम्मी ने जेवरों की संदूकची के अलावा भी आपको कुछ सौंपा?" घर, बागीची वगैरह का वारा-न्यारा करने के साथ वकील साहब ने बताया, "जेवर थे सो आपके हैं। यही समझिए बैंक में पड़े हैं। जब चाहें आप तक पहुंचाये जा सकते हैं।" मासूमा की शादी के समय महक को अलग-थलग कर दिया जाता है। बदले में वह इन्हीं जेवरों की मांग करती है तो सरलता से लौटाने के बजाय वकील साहब धमकियों पर उतर आये, "जानम, आप इस बात पर अड़ेंगी तो मासूमा की शादी इस खानदान में न हो पायेगी।" महक इस धमकी से नहीं दबती, "कुछ भी हो, जेवर पहले और शादी बाद में।"

महक अपने अनुभवों के कारण संशयालु है। यही जेवर उसकी कुल संपत्ति हैं। नमीस बानो को अपने इन्हीं जेवरों को पाने के लिए अपने आशिक नवाब साहब का कत्ल कराना पड़ा था। उसी मुकदमे में ये जेवर कृपानारायण के पास पहुंचे। महक को जब बदरु हुए तो बउमाजी ने उसे अपने कंगन दिये। कुटुंब और कृपा वह कंगन महक से वापस ले आये। लेकिन महक जब अपने जेवर मांगती है तो वे उत्तेजित हो जाते हैं। आखिर महक को जेवर वापस मिलते हैं। मासूमा के निकाह में वह उन्हीं जेवरों में सजकर आती है। जब वह सजकर तैयार होती है तो "अंदर महक बानो मुस्करा दी। आज से पहले तो हम औरत भी नहीं थे। ओढ़नी थे, अंगीया थे, सलवार थे।" महक ओढ़नी, अंगिया, सलवार से औरत बनना चाहती है। अधिकारहीन रहकर वह औरत भी नहीं बन सकती। मां के जेवर उसके अधिकार का प्रतीक हैं।

कृपानारायण और कुटुंब जब महक के कंगन ले जाते हैं तो बदरु को ज्यादा बुरा नहीं लगता लेकिन मासूमा कहती है, "वह बातों ही बातों में अम्मी का कंगन लूट ले गये हैं।" अपने जेवरों के लिए यह संघर्ष करती है तो बदरु ऊंचे खानदान में बहन की शादी का वास्ता देकर मां को ही रोकते हैं। महक उन्हें चेतावनी देती है, "बदरुद्दीन, तुम अभी नहीं समझोगे। हक मांगना अगर लड़ाई है तो दूसरों का हक मारना भी बेइंसाफी है।" एंगेल्स कहते थे, औरत संसार की पहली सर्वहारा है। हक मारने वालों से हक के लिए लड़ना सर्वहारा चेतना का प्रतिरूप है।

छुन्ना विधवा है। ससुराल की संपत्ति में हिस्सा न बंटाये इसलिए मायके जाने पर मजबूर कर दी जाती है। मायके में अधिकारपूर्वक रहे, यह बात कुटुंब को अखरती है। वह छुन्ना पर आरोप लगाती है। छुन्ना की पीड़ा यह है कि विवाह के पहले उसकी भावनाओं को कोई नहीं समझता, भुवन में वह अपनी पूर्णता पाती है तो आर्य समाज मंदिर में उनसे विवाह करती है, उसके स्नेही भाई इस विवाह को अंत तक मान्यता नहीं देते, भुवन की असमय मृत्यु के बाद वापस मायके लौटती है तो विधवा का अपमान सहती है, "एक नाम धर दिया हमारा, विधवा। वह तो हर सगुण शास्त्र के बाहर, उसपर इनकी सब खामियों-नाकामियों के जिम्मेदार भी हम। इनके लिए दुबारा से निकाल लें बिछुए और टिकुली। हद है अंधविश्वास की।" संपत्ति-संबंधों के साथ अंधविश्वासों का संबंध बार-बार उजागर करके कृष्णा सोबती अन्याय के भौतिक और विचाराधारात्मक स्रोतों के प्रति जागरूक करती हैं। छुन्ना को भाई का संरक्षण मिलता है, बदले में भाई को उसका समर्थन मिलता है। लेकिन वकील साहब की जरूरत और छुन्ना की पीड़ा में बहुत फासला है। मृत्युशय्या पर ये छुन्ना से कहते हैं, "यूं तो अपना सारा कुनबा-कबीला मौजूद था पर हमारी ओर तुम-जैसा चौकस गवाह सिर्फ एक रहा, एक।" छुन्ना कुछ नहीं बोलती। जी भर आता है। सोचती है, "काश! हम भी दादा से कह सकते कि किसी एक की जरूरत तो हमें भी थी।" बउआजी हों या कुटुंब, महक हो या छुन्ना, जरूरतों का दमन स्त्री की ही होता है।

वकील साहब सबका ख्याल रखते हैं। अपने भरसक निष्पक्ष और उदात्त भी हैं। अपनी वसीयत में अपने संयुक्त परिवार, महक के बेटे, छुन्ना की परवरिश, मंदिर-अनाथालय सबका बंदोबस्त करते हैं, लेकिन सारा बंदोबस्त संपत्ति का है। उस संपत्ति से जुड़े हुए जीते-जागते मनुष्यों का, उनकी अंतरंग भावनात्मक जरूरतों का कोई बंदोबस्त नहीं है। संपत्ति और मनुष्य में यह विरोध आधुनिक पूंजीवादी जीवन की निर्मम वास्तविकता है। पूंजीवाद उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व की व्यवस्था है। वह उत्पादन के साधनों से श्रम और समाज के अलगाव की व्यवस्था भी है। इस वास्तविकता को आत्मसात किये बिना न हम समाज की समस्याओं को समझ सकते हैं, न मनुष्य की भावनाओं और संबंधों को। कृष्णाजी घटनाओं और संवादों से निर्मित कथाविन्यास में वास्तविकता के सूत्रों को इस तरह पिरोती हैं कि उनपर अलग से ध्यान नहीं जाता लेकिन यही सूत्र उनके कथानक को गहराई प्रदान करते हैं।

वकील साहब अपने ढोंग को उचित ठहराते हुए महक से कहते हैं, "जानम, मुहब्बत की रिहायश सिर्फ जिस्म में नहीं होती, दिलो-दिमाग में भी होती है। महक उत्तर देती है," दिलो-दिमाग क्या काया के अंदर नहीं होते। आदर्शवादी और यथार्थवादी दृष्टिकोण में यही अंतर है। सुख, सफलता और संपत्ति में लिप्त रहने वाले कृपानारायण जिस्म से ऊपर उठकर दिलो-दिमाग की बात करते हैं! सामाजिक संस्कार और आर्थिक अभाव की निरंतर मार सहने वाली महक दिलो-दिमाग को संभालने वाली काया का महत्व पहचानती है। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' वाले पाखंड के बीच काया की सचाई को स्वीकार करने की कोशिश से भारी खलबली मचती है। कृष्णाजी ने बेहद सादगी के साथ और उतने ही साहस के साथ यह कोशिश की है। आज की बहुत-सी स्त्रीवादी उपेक्षिताएं केवल काया में सिमट जाती हैं। कृष्णाजी हाड़-मांस के मनुष्य में धड़कने वाले दिल और सोचने वाले दिमाग को भी सजीव करती हैं। हिंदी के स्त्री-लेखन में यह उनकी बहुत बड़ी देन है। □

कृष्णा सोबती

कालजयी उपन्यास *दिलोदानिश* का एक स्मरणीय अंश

लाल बही के पन्ने से

जिंदगी शमए-हयात है। दुनिया की महफिल में मुकर्रर वक्त तक जलती है और अपने को बच्चों में कायम करके गुल हो जाती है। जा मिलती है उसमें जो खुर्द से खुर्द, बारीक से बारीक, दूर से दूर और नजदीक से नजदीक है।

हम कृपानारायण, वल्द जनाब श्यामनारायण, साकिन कोठी किलामुख, उर्फ हवेली चारबुर्जी, होशो-हवास में अपने परदादा साहिब के दस्ते मुबारक से शुरू की गई दास्ताने-खानदान में अपनी जिंदगी का आखिरी पन्ना जोड़ने जा रहे हैं। अपने ऊपर के सभी दस्तखत देखकर हम अपने और अपने बुजुर्गों के दरमियान बहुत कम फासला महसूस कर रहे हैं।

हम बीमार जरूर हैं पर हमें नहीं लगता है कि चले जाने के बाद हमारे और हमारी जिंदगी के बीच धड़कती कहानी खत्म हो जाएगी। आंखें मूंद लेने के बाद भी हम अपनी औलाद में जिएंगे। हम जिंदगी से हमेशा के लिए फरार नहीं हो रहे। मौत के बरअक्स भी जिंदगी कभी खारिज नहीं हो जाती। इसके कमानचे के तार लगातार सारंगी के-से सुर निकालते चले जाते हैं। हमारे आबखाने में पीढ़ियों का अर्क प्रसाद महफूज है। परदादा साहिब के वक्तों की अंगूरी अब भी हमारी अल्मारी में पड़ी है। अशरफियों की नजर पर खुश होकर यह बोतल फ्रेजर साहिब ने परदादा साहिब को दी थी। दादा साहिब की मुरादाबादी मीनाकारीवाली सुराही उनके ननसाल से होली के तोहफे में आई थी। वह भी अभी अनखुली है। उनके हुक्म के मुताबिक हमारे पोते के जन्म पर हमारे बेटे राजनारायण इसे खोलेंगे। हमारे वालिद साहिब की विलायती खरीद चांदी की पतली गर्दनवाली हसीना जिसे दादा साहिब पूजा में रखा करते थे, हमारे पोते के नौशा सजने पर ही खुलेगी।

हम भी अपना नाम लिखकर छोड़ रहे हैं इस कांच की लाल परी के मुंह पर, जो इंतजार करने वालों का जाने कब तक दिल लुभाती रहेगी। गालिबन हमारे पोते के बालिग होने पर खुलेगी।

हमारे खानदान का शजरा इस पुराने धारदार कीमती अर्क में बंधा है जिसकी तासीर से हमारी बिरादरी के तहजीब और तमद्दुन जुड़े हैं। हमारे लिए यह शराब नहीं, देवी का प्रसाद है। इसी में हमारे पूर्वजों की बरकत पैबस्त है।

जिंदगी बड़ी दीदनी है। खुबरू और गंदुमगू। इसका हासिल मौत नहीं, हरकत और तब्दीली है जो कुदरत के जलवे से बसिलसिला जारी रहती है। इस हवेली में धड़कती जिंदगी करीब-करीब उसी नक्शे-कदम पर चलती रही है जिसे हमारे बुजुर्गों ने बनाया-चलाया था। दिन, त्योहार, शादी-ब्याह, जन्म-मरण के मौकों पर वही रीति-रस्म और नियम निभाये जाते रहे हैं।

जिंदगी बज्मे-ऐश नहीं, अपने और अपने कुल-खानदान को संवारने की पेशकश है। आज हम महसूस कर रहे हैं कि हम जितना कुछ कर पाये हैं उससे कहीं ज्यादा हमें कर डालना चाहिए था। दिल की गहराइयों में हम यह भी जानते हैं कि मनचाहा करने के लिए बहुत कुछ की कुर्बानी करनी होती है। बुजुर्गों के नक्शे-कदम पर चलने की पूरी कोशिश के बाद हमारा कुल हासिल काफी नहीं। फिर भी हमने जो किया, संजीदगी, सोच-समझकर और आहिस्तगी के साथ किया। कुनबे को चलाना-बनाना बाजीगर का खेल-तमाशा नहीं। परिवार के हर छोटे-बड़े की तमन्ना, अरमान को परवान चढ़ाने के लिए धीरज और अकलमंदी से कतरा-कतरा समेटना पड़ता है। उसे खानदान के मूलधन में जोड़ना पड़ता है।

इस बाजारे-जहां में कौन क्या खरीद लेता है, क्या बेच जाता है यह सिर्फ चाहने पर नहीं, इत्तिफाक पर मयस्सर है। इस कुदरती करिश्मे के तहत किसी को यकमुश्त इनाम मिल जाता है और किसी को किश्तों-किश्तों में। ज्योतिषी-पंडित जन्मपत्री पढ़ सकते हैं, तकदीर को बदल नहीं सकते। हमारे खानदान की मूल शाखा के मूरिसे आला जनाब परमानारायण साहिब और जनाब धर्मनारायण साहिब की सगोत्री संतति पुश्त-दर-पुश्त इस चारबुर्जी हवेली में कयाम करती आई है। यह हमारी पुश्तैनी जायदाद है और नाकाबिले-इन्किसाम है, बांटी नहीं जा सकती। यह हवेली तवारीख के पन्नों में से उभरी थी। इसके उतार-चढ़ाव में जाने कितनी कहानियों ने करवट ली और गुम हो गईं। हमारे परदादा साहिब के पितामह ने यह कोठी खरीद न ली होती तो हम और हमसे पहले हमारे भाई-बंद कैसे तो दिल्ली में पैदा होते और कैसे यहां से रुखसत होते!

हमारे बड़े बेटे राजनारायण खानदान के चलन-दस्तूर

बरताव पुरपेचोखम से नहीं, सबके लिए शरीके-रंजोराहत होकर ही किया जा सकता है। कुनबे-भर को देखने-पढ़ने की तीन आंखें और चार पहलू नहीं, दो आंखें और छह पहलू होने चाहिए। कुनबे को चलाने के लिए दादा साहिब की मर्जी मुताबिक कुछ इंतजाम किए गए थे। बेशक उनमें फेरबदल किए जा सकते हैं पर उन्हें जारी रखने में भी कोई हर्ज नहीं।

कटरा बेगम से लगा वृंदावनी अहाता और किराये पर उठायी गयी दस कोठरियों की सालाना आमदन कालकाजी मंदिर में खानदान के लिए बने कमरों की देखभाल के लिए मुकर्रर है।

किनारी बाजारवाली कुल आठ दुकानें, जिनके किराये की रकम हवेली की देखभाल, मरम्मत, रंग-रौगन के लिये खर्च होती रही है, वैसी ही चलती रहनी चाहिए।

फाटक हाबशखां, गली नंबर 3, मकान नंबर 23 कायस्थ सुधार सभा को सौंप दिया गया था। सुधार सभा को हस्बेमामूल सौ रुपया सालाना जाता रहेगा।

गंगा झूसी के नहर बंगले के सामने वाली जमीन का मामला जो दादा साहिब के वक्त से कचहरी में लटका हुआ है, अब निपटने पर है। इसके आधे हिस्से के दावेदार बताते रहे। अब बेनीमाधो ने समझौते की ख्वाहिश जाहिर की है। हमारे वकील तवक्कली साहिब जल्द ही समझौते के कागजात बना लेंगे। हमें उम्मीद है कि हम इस फैसले पर दस्तखत कर सकेंगे।

नरेलेवाली बगीची साहिब गुलाम दद्दू खां साहिब ने दादा साहिब के वक्तों में उनके पास रेहन रखी थी। दद्दू खां साहिब के बेटे अच्छन खां और रहमत खां इसे छुड़वाने की कोशिश में रहे। रहमत खां साहिब के कोई बेटा न हुआ। सो यह बगीची हमने उनकी दोनों बेटियों-बड़की नकचढ़ी और छुटकी दिलफिरी को लौटा उनके नाम कर दी है। बगीची दो हिस्सों में बांट दी गई है। नरेला मंडी की ओर खुलता दरवाजा नकचढ़ी और पिछवाड़े की दीवारवाला दिलफिरी के लिए तय कर दिया गया है। उनके शादी-निकाह में अब कोई दिक्कत पेश न आयेगी। बेटियां दिल्ली के उस पुराने खानदान से हैं, जिसमें कभी हिंदुस्तान-भर का दिल धड़का करता था। इसे ज्यादा और कुछ भी कहा नहीं जा सकता, सो कम कहे को ज्यादा समझा जाय। दोनों नकचढ़ी और दिलफिरी के जेवर और जोड़ों के लिए पांच-पांच सौ की रकम दरीबा के आफताब सेठ के धर्मखाते में जमा कर दी गई थी। उसके अलावा शहनाई और दावत का इंतजाम हवेली की ओर से कर दिया जाय।

अलीपुरवाला गेंदे के फूलों का खेत, रकबा एक एकड़ एक बीघा, खसरा नंबर 147, सोच-विचार के बाद

के मुताबिक सभी छोटे-बड़ों का लिहाज रखते हुए निगहबानी से अपना फर्ज निभा सकें- हमारी ओर से दया-आशीर्वाद उनके लिए।

कुनबे-कबीले में कमी-बेशी शिकायत-मलाल को नजरअंदाज किया जा सकता है मगर खानदान में नाइत्तिफाकी को संभालना किसी भी दूसरे काम से जरूरी है। यह करतब सूई के महीन नक्के में तागा डालने जैसा है, जो कुनबे को एक-दूसरे से जोड़े रहता है।

वक्त हमेशा सरशार नहीं होता। उसमें फेर-बदल होते रहते हैं। सलीकामंदी और सलीकाशियारी से सबकी तसल्ली करना हर कर्त्ता का फर्ज है। खूबी इसमें कि वह अच्छे सलाहअंदेश को कभी अपने से दूर न करे। छोटे-मोटे झगड़ों से अपने को बचाकर रिश्तए-खूं की इज्जत करे। ऐसा करने पर ही खानदान का बड़ा बेटा अपने सही कद में पहचाना जाता है।

हम राजनारायण साहिब में अपने खानदान की वे सब खूबियां देखते हैं जो हमारे दादा साहिब ने कभी हममें देखना चाही थीं। वह दूरअंदेश हैं। उनमें सबकी सुनने और वक्त पर अपनी कह सकने की खूबी मौजूद है। वह खामोशी से मुस्कुरा सकते हैं और मुस्कुराकर धमका भी सकते हैं। उन्हें कोई फैसला करने की जल्दी नहीं होती। हमने उनको चचेरों, मौसेरों और बुआ-फूफी के बेटे-बेटियों से सलूक करते देखा है। अपने से बड़ों और छोटों से दोस्ती, शऊर और इज्जत से पेश आते हैं। ऐसा

संतोषी बुआ के बेटे प्यारे बाबू को बेच दिया गया है। फूफा जनाब रंगबिहारी लाल को सरकार से मिली जमीन इसी से अटी पड़ी है। कागजात प्यारे बाबू को सौंप दिये गये हैं।

निकल्सन रोडवाली फसील के पिछवाड़े एक-दूसरे से सटे मकान नंबर 341 और 342, जिनमें एक-एक ड्योढ़ी के दाएं-बाएं एक-एक बैठक, दो-दो कमरे और अलग-अलग सहन हैं- दोनों छतों को जाती अलग-अलग सीढ़ियां और अलग-अलग बरसातियां हैं- हमारे दादा के चचेरे भाई मुकंदी लाल और चिरंजी लाल जो चर्खेवालान में अपने ननिहाल में रह रहे थे, अब इन दोनों घरों के मालिक हैं। इन दोनों की खरीदारी के कागजात तवक्कली साहिब के पास हैं।

कश्मीरी गेट के ब्रैडला साहिब से खरीदी गई कोठी नंबर 13 हमारे तीनों बेटों- राजनारायण, दयानारायण और प्रेमरानायण के नाम कर दी गई है। नीचे की मंजिल में दो हिस्से हैं और ऊपर एक। टेनिस ग्राउंड और नौकरों की रिहाइश के लिए छह कोठरियां इसी के अहाते का हिस्सा हैं। यह कोठी किराये पर देने के खयाल से ही हमने खरीदी थी। मैसर्स विलियम एंड संस को 25 साल के पट्टे पर सौ रुपये माहवार पर दी जा चुकी है।

कोठी नंबर 11, अलीपुर रोड, छुन्ना और भुवन ने हमसे खरीद ली है। रजिस्ट्री और जरूरी कागजात तवक्कली साहिब के पास हैं।

भोरगढ़वाला बाग जो बाबा साहिब ने धर्मोत्तर संपत्ति की शक्ल में कूचा पातीरामवाले हनुमानजी के मंदिर को लगा दिया था, वह वैसे ही मंदिर के महंत श्री नरहरिनाथजी के नाम बना रहेगा। इस बाग में किसी समवंशीय का कोई हिस्सा नहीं। यह बाग रेहन में बाबाजी के पास आया था। महीपत चौहान से करवाई गई रजिस्ट्री मौजूद है। वैसे रेहननामे का मालिकाना हक बिना रजिस्ट्री के भी जायज होता है।

आर्यसमाज में हुई भुवन और छुन्ना की शादी को न हम ठीक समझते हैं न गलत। छुन्ना का बड़ा भाई होने के नाते हमने उनकी मर्जी मुताबिक उनके लिए रिहाइश का इंतजाम-भर किया है। 11 अलीपुर रोड क्योंकि हमारी बीवी कुटुंब प्यारी के नाम थी, बिक्री का रुपया उनके नाम से जमा करवा दिया गया है- सेविंग एकाउंट नंबर 1436, इंपीरियल बैंक, चांदनी चौक।

नंबर 7, जमुना रोड, हमने अपने और महक बानो के बेटे बदरुद्दीन उर्फ बदरीनारायण के नाम कर दी है। इसे हमने महक की बचत रकम से खरीदा था। खां साहिब के मुताबिक क्योंकि अब महक को इसकी जरूरत नहीं रह गई सो यह बदरुद्दीन को दे दी गई है। महक चाहें तो अब भी अपने बेटे के पास रह सकती हैं। कुनबे और वकालत के कामों में लगातार मसरूफ रहने की वजह से हम बदरू की आगे की पढ़ाई का कोई इंतजाम नहीं कर सके थे। बहरहाल, खेड़ा खुर्द के लाल डोरे से लगा तिलोकचंद बैंस का गुलाबी बाग हमने खरीद लिया है। इसकी आमदनी बदरुद्दीन की पढ़ाई के लिए इस्तेमाल होगी।
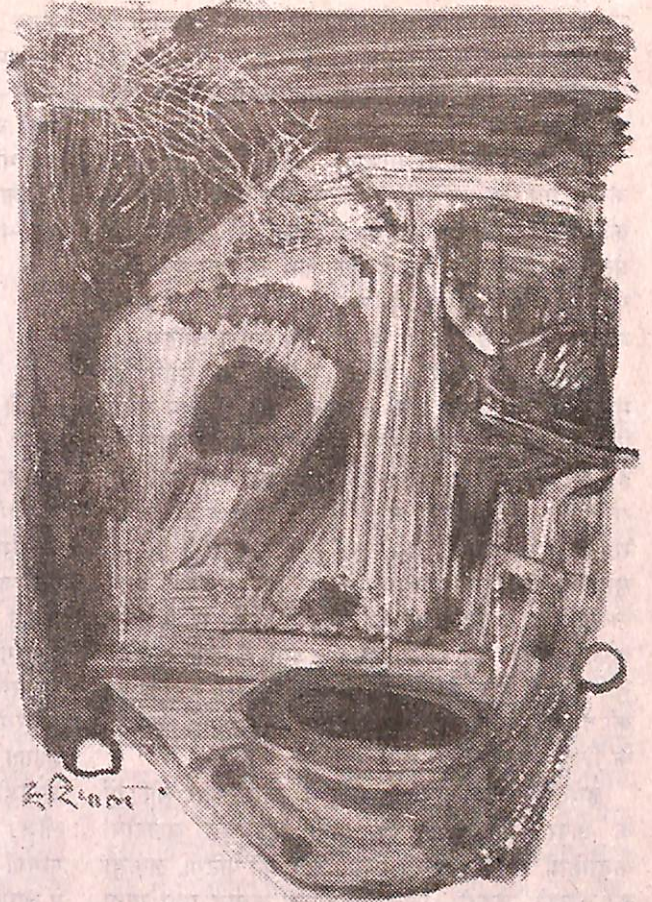
बदरुद्दीन की पढ़ाई को लेकर कोई भी फैसला करने का अख्तियार हमारे वकील तवक्कली साहिब और महक बानो के वकील खां साहिब और हमारे बेटे राजनारायण साहिब को होगा, जो कर्ता की हैसियत से अपने सभी छोटे भाई-भतीजों पर नजर रखेंगे।

इस कुनबे का जो लड़का कानून की पढ़ाई कर वकालत करना चाहे वह चांदनी चौकवाले कमरे में बैठक और कानून की लाइब्रेरी इस्तेमाल करने का हकदार होगा। जब तक खानदान का कोई बच्चा तैयार नहीं हो जाता, तवक्कली साहिब के साहबजादे रघुवंश बहादुर हमारे दफ्तर में बैठा करेंगे। उनसे एक रुपया महीने का किराया वसूल किया जाता रहेगा। वकालत के पेशे में हमने जो भी कामयाबी हासिल की, उसकी बरकत बेशक हमारे खानदान की आला कानूनी विरासत से जुड़ी थी, फिर भी अपने मुंशी फरमान अली को हम भला कहां भूल सकते हैं।

फराशखानेवाला मकान जो मुकदमे की फीस के एवज में महक बानो की वालिदा बेगम नसीम बानो साहिबा ने बल्लीमारान के नवाब खां साहिब के पास

रेहन रख दिया था और जिसकी पूरी रकम अदायगी के बाद हमने महक बानो के लिए छुड़वा लिया था, अब इसे फरमान अली साहिब के बेटे सुल्तान अली को बेच दिया गया है।

मोर सरायवाला दो मंजिला मकान नंबर 132- तीन कमरे, एक दालान, बरसाती, मशरिक की जानिब दो कोठरियां- वालिदा साहिबा की आखिरी ख्वाहिश के मुताबिक उनके भाई मुंशी भोलानाथ के नाम कर दिया गया है। मकान पुराना और खस्ताहाल है इसलिये इसकी मरम्मत का खर्चा हवेली से कर दिया जाना चाहिये।

कुर्सीनशीन हमारे परदादा साहिब का सोने की मूठवाला बेंत जिसमें हीरे-जवाहरात जड़े हैं, हम सबके लिए खानदान की आनबान और इज्जत का निशान रहा है। इसे हम अपनी धर्मपत्नी कुटुंब प्यारी को सुपुर्द कर रहे हैं। उनमें हर छोटी-बड़ी चीज को सहेज-संभालकर रखने का सलीका है। हम उनसे उम्मीद करते हैं कि वह सुहागनों के दिन-त्योहार-व्रत पर इसे बाइज्जत बाहर निकालेंगी। खानदान की बहू-बेटियां इसके सामने नमन करेंगी। हममें यह इच्छा अपने बुजुर्गों के चाहने से ही जगी होगी। हमने जब-जब बाबाजी के इस जड़ाऊ बेंत को देखा, उनके कलम की तरह ही हममें अपने खानदान के लिए मुकम्मल अहसास जगा।

हवेली के पिछवाड़े तहखानों में उतरती चोर सीढ़ियों के ऊपर बनी दो बैठकें जहां बड़े-बड़े बलटोये, कड़ाहियां, संदूकचे, संदूकचियां, लोहे की पेटियां, लकड़ी की चौखटें, शहतीर, चिलमनें, पुराना कबाड़ पड़ा रहता है, वहीं ढेर के नीचे कहीं वह हाथी दांत की संदूकची पड़ी है, जो बेगम समरू के सरधना जाते छूट गई थी। दादा साहिब भगवान को प्यारे हुए तो रुखसत से पहले दद्दा को इसकी खोज करने की हिदायत दी थी। ढूंढ़ हमने भी कम नहीं करवाई पर जाने वह कीमती शय कहां दुबकी पड़ी है। शायद कभी कहीं से किसी के हाथ लगे। हो सकता है बदरू इसका सुराग निकालें। बदरू की निगाह दूर तक खोजने वाली है और अपने भगत नाना से मिला इल्हाम सोने पर सुहागे का काम कर सकता है।

अपने नाना साहिब और दादा साहिब दोनों की ओर से बदरू परिवार की पूजा-आरती में शरीक होना चाहें तो उन्हें भला कौन रोकेगा! हवेली में रहने-ठहरने के लिए रज्जो और बदरू के बीच एक ऐसी नजदीकी है जो दो सगे भाइयों को भी पीछे छोड़ देती है। दोनों एक-दूसरे को साधे रहेंगे तो खानदान के हक में अच्छा होगा। हमने जब-जब भी एक साथ देखा दोनों मिलकर हमारे खानदान का एक माहौल बनाते हैं।

फव्वारे की चार दुकानें और मैजेस्टिक टाकीज के पीछे के गोदाम रायचंद बिसाखचंद को पचास-सालाना पट्टे पर दे दिये गये थे। पेशगी किराया इंपीरियल बैंक, सेविंग एकाउंट नंबर 333 में जमा कर दिया गया था। यह रकम खानदान की बेटियों के लेन-देन में काम आती रहेगी। बाप-दादा की जायदाद पर क्योंकि बेटियों का हक-अख्तियार नहीं होता, उन्हें दिन-त्योहार, शादी-ब्याह में पुरतक्कलुफ पुरजोशी से पीहर में बुलाना लाजिमी है। खानदान की बहनें-बेटियां और फूफियां अपने-अपने घरों में आबाद रहें और पीहर की छोटी-बड़ी बरकतों से शाद रहें- हर बाप और भाई की तरह हम भी उनके लिये यही दुआ करते हैं।

आज हम जाने क्या-क्या करना चाहते हैं। पर कुछ कर सकने की मोहलत कहां बाकी है!

मंजिले-ऐश नहीं है ये सराए-फानी
रात की रात ठहरते हैं ठहरने वाले।

जो दुनिया इस घर में अपनी तौफीक से हमने बनाई, सजाई थी, उसी में हम मेहमान हैं अब। अपने आरपार फैले उम्र के दोनों किनारों से हमसे जिंदगी की गूंज टकरा रही है। गौरीशंकर के मंदिर के घंटे-घड़ियाल बज रहे हैं- नुगदी के प्रसाद की तरह चंद रातें या कुछ घंटे और। जो आता है वही जाता भी है। जन्म-मरण। बच्चों, पैदा होते रहो। हमें मालूम है कि हम यहां से चले जाने के बाद भी दिल्ली की इन्हीं गलियों में घूमा करेंगे। अपने पोतों की आंखों से अपने मनपसंद खोमचों की ताक-झांक करते रहेंगे। दिल्ली के शहरियों के शोरगुल के गुलदस्तों को सूंघते रहेंगे। जामुन, शहतूत, खिरनी, चाट-पकौड़ी, इमरती, जलेबी, बेड़मी कचौड़ी, रबड़ी खुरचन। आह! घंटेवाले की पिस्ते की लौज। सर्दी की दुपहर में घंटाघर की ओर टहलते जाना, गर्मियों की शाम चांदनी चौक की ओर सरकते जाना, बारिश में जामा मस्जिद पर इठलाते बादलों को देखते जाना- क्या-क्या नजारा इस शहर में पिरोया पड़ा है।

जमुनाजी के किनारे से लगी-बंधी इस शहर की हस्ती ने सदियों तलक जाने किस-किस को अपनी ओर बुलाया, खींचा और औलाद समझकर अपनी मिट्टी और पानी से सींचा। खुदा करे दिल्ली कभी वीरान न हो! अपने कमाल और कलाम से सरसब्ज बनी रहे! दिल्लीवालों के दीदा और दिल इन्हीं गलियों में चहलकदमी करते रहें! दरीबे की भीड़ में अपने को भी ढूंढ़ लेने को किस दिल्लीवाले का दिल न मचलेगा! नुक्कड़ के रसिया बनारसी के हलक में घुल जाने वाले पान के लिए किसका दिल न तरसेगा! जियो प्यारे, जियो! तुम्हारे साथ-साथ हर घर के पानदान भी तरो-ताजा बने रहें और तुम्हारी गिलौरियों के दाम बढ़ते रहें! इस दिलफरेब दिल्ली को छोड़कर भला हम कहां जा रहे हैं- इस लज्जत और जीने के लुत्फ को छोड़कर!

रोशनी कम-सी क्यों लग रही है? क्या कम हो गई?

फरिश्ता खस्लत मास्टर अमीचंद कुछ कहा करते थे न!

याद नहीं आ रहा।

मिशन कालेज के हंगामी मुशायरे...वह मिसरा :

गुल्शने-दुनिया सदरंग में आबाद रहे...

अब इजाजत लें-

आपसे, अपने से और इस जहां से जहां बरसों-बरसों-बरसों हम जिया किये।

खुदा हाफिज -

– कृपानारायण ◻

कृष्णा सोबती

दिलो-दानिश की आंतरिक रचना प्रक्रिया पर एक नजर

दिलो-दानिश और मुखबिरों की मुखबिरी

मुखबिरों की मुखबिरी की बदौलत तुगलकाबाद पुराने किले और हुमायूं के मकबरे के वीरान अंधेरों में जिंदगीनामा के क्रांतिकारी इन्कलाबी रेल की पटरी को बिना उखाड़े मुकर्रर वक्त से पहले ही घटनास्थल से दूर हो गये। दबे पांव रात के अंधेरों की मनहूस मुलायम पर्तों में लुकते-छिपते दिल्ली दरवाजे से शहर में दाखिल हुए, जामा मस्जिद के पिछवाड़े से दरीबा की ओर बढ़े और मास्टर अमीचंद के चौबारे पर न जा, बेगम समरू की कोठी की ओर मुड़ गये। इतनी आसानी से भला यह क्या हुआ! क्या यहां भी अंदर जाने और बाहर आने के मंसूबों का खेल बरपा हुआ! मुखबिरी और गुप्तचरी। तलवार की मार-काट से भी पुराना यह शतरंजी खेल दौलतमंदों का!

लेखक अवाक हो कर हवेली के फाटक पर खड़ा कुछ सोचता रहा, गुम हुए क्रांतिकारी सायों को खोजता रहा। फिर कुछ न पा कर मोर सराय से होता हुआ दिल्ली जंक्शन पर पहुंच गया। प्लेटफार्म से गाड़ी की ओर बढ़ते लोगों की पहचान करने लगा। सोचा- जासूस पैदा भी होते हैं और बाकायदा बनाये और पढ़ाये भी जाते हैं।

लेखक प्लेटफार्म पर खड़ी गाड़ी में जा बैठा। क्या पुराने ठिकाने पर उतर सकेगा? क्या दो बिछौनों की दो औलादों को पकड़ना मुमकिन होगा? कहां कुदसिया गार्डन और कहां धानसिंह हाउस! तहखानों से बाहर निकलते चोर दरवाजे और पुलिस से लुकते-छिपते सिरफिरे इन्कलाबी।

गाड़ी तेज रफ्तार से भागते-भागते झटके से खड़ी हो गयी। कोई स्टेशन नहीं फिर हाल्ट क्यों? कुछ सिपाही उतरते नजर आये और उनके साथ सादे कपड़ों में खुफिया पुलिस। लाइन के फिश प्लेट देखे जाने लगे। लेखक मौका देख पिछले दरवाजे से उतरा और झाड़ियों को लांघता-फलांगता पंज तीर्थी पर पहुंच गया। साध-संगत जुटी थी। पांच बाबे, पांच प्यारे, पांच पीर, पांच दुलारे और पांच प्रकाशक! भक्ति गलियारे के केंद्र में पठन-पाठन चलता रहा। कभी गीता, कभी योग वसिष्ठ, कभी हनुमान चालीसा, कभी सत्यार्थ प्रकाश। फिर की गई अरदास।

हे सच्चे पादशाह! हम पर आपकी नजर रहे सीधी, और सच्चों की सच्चाइयों का हो सत्यानाश! और हमारा न हो पर्दाफाश।

दीवार के साथ लगी बैठी दो हमवतन बीबियों ने भक्तिभाव से सीस झुकाया, प्रसाद लिया और खंडहर पर चढ़ कर गुरुयानी का जयकारा बुलाया- जयमाता की, जय देवराहा बाबा की, जय महरौली बाबा वरयाम सिंह की- और हवा में अपना परचम लहरा दिया। झंडे पर जो शब्द चमके, वह थे तंत्र-मंत्र और शक्ति जंत्र।

लेखक ने अपने से कहा-

होशियार! खबरदार!

आखिर माजरा क्या है। एक को दूसरे की जरूरत है। दूसरे को पहले की। आज की तारीख में गुनाह गुण है और गुणा है। गड़े मुरदे उखाड़ कर, उन्हें धो-पोंछ कर साफ किये जा रहे हैं। सब मिल कर गुप्तचरों को देशभक्ति सिखायेंगे। क्रांतिकारी की जीवनी को उपन्यास बनायेंगे। दूसरों के शीर्षक से क्रांतिकारी की जीवनी को उपन्यास के नाम से विज्ञापित करेंगे। जो आंख में बस गया, उसे लूट-खसोट कर अपना कर लेने का सुबूत पेश करेंगे। वाह, हिम्मत सिंहों की हाकमतानी को और प्रकाशकों की मर्दानगी को। प्यारे भ्राता तू लेखक को नोंच उसके अस्तित्व को खरोंच और कापीराइट की डफली बजा-बजा कर कह इन्कलाब!

जोरावरसिंह जाने कैसे और कब आकर आंखों के आगे प्रकट हो गये और लेखक को पिस्तौल दिखा कर कहा- मेरी बात सुन, हम जैसे इन्कलाबियों के आख्यान न छूना काका, जिस बंदे की कायापलट की जा रही है, उस इन्कलाबी की दस्तारबंदी होने दो। उसकी गुप्तचरी की सीक्रेट फाइल हमने उड़ा ली है। अब वह क्रांतिकारी शहीद है।

प्रिय पाठक, संक्षेप में मुझ जैसे छोटे से लेखक के बड़े उपन्यास *जिंदगीनामा-जिंदारुख* और *जिंदगीनामा-2 इन्कलाब जिंदाबाद* के वृत्तांत से उतर कर *दिलोदानिश* तक पहुंचने की इतनी ही कहानी है।

परिवर्तन - आमूल परिवर्तन!

जिंदगीनामा-२ इन्कलाब जिंदाबाद जो जिंदगीनामा एक की जिल्द पर विज्ञापित था और *साक्षात्कार* में प्रकाशित अंश *एक चवन्नी जयरामजी की, एक चवन्नी आदाबर्ज* से किसी को भान तो हुआ होगा कि पाठ में किस मोड़ का संकेत है! इस उथल-पुथल में पाठ का मुखड़ा बदल गया है।

एक रात खिड़की से नीचे झांक कर देखा तो वकील

कृपानारायण बग्घी से उतर, हवेली की ओर बढ़ रहे थे। ऊपर की मंजिल से खटका हुआ। क्या किसी ने नीचे झांका! वक्त-वक्त की बात है। दोनों ओर निगाह कुछ ऐसी कि वकील साहिब से दोस्ती चल निकली!

एक सुबह रजाई पर रखा कंबल खींचा तो लगा इस बार दिल्ली में जरूर चिल्ला पड़ेगा। महीन झीनी-सी धूप ने तसदीक की कि चिल्ला शुरू हो गया। शहर को कंपकंपी लग गयी। गहराता जाड़ा लाल किले की महराबों को फलांग जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर पसर गया। रजाइयों, दुलाइयों और निहालियों के ढेर। हवा में झिलमिलाती पतली धूप। रंग-बिरंगी रजाइयों में पड़ते डोरे दिल्ली के बाशिंदों पर आड़ी-तिरछी खींचने लगे। साटनी छींट की चार रजाइयां सिलवा-भरवा मुंशीजी हवेली पहुंचाने गये तो उन्हें देख वकीलनी खुश हुई। पुरानी दिल्ली के पुराने संयुक्त परिवार की गृहस्थी। संबंधों के सूत्र एक दूसरे से गुंथे-बंधे। कोई निकट, कोई निकटतर। कोई कुछ पास-सा, कोई कुछ दूर-सा। कोई ज्यादा सगा कोई सगे से सरक कर दोस्त और कोई इन सबसे आगे अपना खास जिगरी।

नजदीकियों और दूरियों के कई रंग। हर रिश्ता, हर वजूद टुकड़ों-टुकड़ों से मिल कर बना हुआ। एक ही छत तले, एक ही परिवार में कई पैहरन और कई थिगलियां। परिवार के कर्ता के अलावा है कहीं कोई एक साबुत शख्सियत! कोई किसी के दबाव से बरी, कोई किसी के दबाव के शिकंजे में, कोई किसी के हाथों मजबूर, कोई अपनी ही कमजोरी से दिक। कोई मद्धम पड़ चुके चाव-प्यार को दुबारा चमका रहा है, कोई पुरानी दमक पर से धूल हटा रहा है! गूंजते रहते हैं सिर्फ संबंधों के संबोधन। शायद यही आवाज संबंधों की इस भीड़ को जिंदा रखती है।

वकील साहिब नींद की खुमारी में पड़े-पड़े बिना आवाज के अपने से बातें कर रहे हैं- महक बानो, तुम्हें तो अब हमारे पास होना चाहिए। हम इतना भी इकट्ठा नहीं रहे कि तुम हमें उलाहने दे-दे कर हमारी बीवी कुटुंबप्यारी ही बन जाओ। लाइये, अपने हाथ से एक पान तो दीजिए हमें। कुटुम्बप्यारी हमारे सिरहाने तले टटोल-टटोल कर जाने क्या ढूंढ़ रही हैं। ताजिंदगी यही करती रहीं- कभी हमारी अलमारी की चाबी, कभी हमारी तिजोरी की और कभी हमारे दिल की! बदन में जाने क्यों गर्मी महसूस नहीं हो रही है। पुरानी दारू की गंध कमरे में बिछौने के आस-पास मंडरा रही है। नहीं, यह माता का प्रसाद नहीं, इत्र है! मोंगरा कि मोतिया? लो कृपा, यह छोटी शीशी सूंघो। खस है। और यह रहा मिट्टी का इत्र। आह! वाह! मिट्टी की गंध सराबोर कर रही है, अपनी सोंधी खुशबू से।

खुशबू ही क्यों! चांदनी चौक की चकाचौंध को भर दिया इत्रफरोशों ने इस मुनिया सी शीशी में!

कौन? वही जुगल अत्तार दरीबे की नुक्कड़वाला।

लो महक बानो, इसे सूंघो। यह हम दोनों की पुरानी गंध है! अरे, तुम्हारी कमर में बउआजी की करघनी कैसे! यह तो कुटुंबप्यारी को दी गई थी न!

यह क्या, हमारे कमरे की तालियों का गुच्छा कहां गया? खां साहिब के हाथ में! मगर कैसे? क्यों हुआ ऐसे!

वकील साहिब डूबते-उतरते अलकस में तैरने लगे। बेशुमार पाखियों की चहचही कानों को सुरसुराती रही। ज्यों कोई गिलहरी फुदककर सीने के आर-पार हो जाए। किट-किट-किट, खट-खट...

कौन?

पैनी नोकवाली कोई मेख रेंगती-रेंगती कनपटियों तक पहुंच गयी। कहां पहुंचे हैं हम भला? ऊंचे घने पेड़ों की सीध आसमान की ओर सलेटी धुंए की लकीर मंडला रही है।

घबरा कर वकील साहिब ने आंखें खोल दीं। लिहाफ पर उघड़े पड़े दोनों हाथों को देखा। बाकी बदन कहां है भला हमारा! पांव, धड़, पीठ। हाथ उठा कर गले पर फिराया। सब अपनी-अपनी जगह मौजूद हैं। कायम हैं। लगता है बाहर कोहरा छाया है।

चाहा कुटुंबप्यारी को आवाज दें पर ओंठ न हिले।

नई सड़क वाले जगतनारायण साहिब फुसफुसाये- वकील साहिब हरकत-सकनत में नहीं हैं।

डॉक्टर साहिब ने खामोशी से सिर हिला दिया। कई जोड़ी आंखों ने एक साथ एक दूजे तक पहुंचाया- गंगाजल। कृपानारायण ओंठों ही ओंठों से, 'रज्जो बेटे, नीचे श्याम दादा आये हैं। उन्हें ऊपर लिवा लाओ।' परिवार के कर्ता को रुखसत करने के लिए खड़ा सारा कुनबा मन ही मन पुरानी बातों और नामों की फेहरिस्त दोहराने लगा। वकील साहिब की सलहज बोलो- 'गीता का पाठ!'

कृपानारायण मुंदी आंखों से श्याम दादा के रू-ब-रू हो गये।

'चले आओ कृपा- आओ, आ जाओ! डरने की कोई बात ही नहीं। इस इलाके में कोई खलल और खराश नहीं! अर्मा यार, थोड़ी देर का ही अंधेरा है। बाद में तो खुले आसमान पर खूब जमेगी। बिरादरी के बहुतेरे पहुंचे पड़े हैं यहां। आओ कृपा, चले आओ!'

उपन्यास का अंतिम पन्ना और अंतिम पंक्ति! विराम। लेखक के हस्तक्षेप के बिना पाठ अपने आप, अपनी शर्तों पर समाप्त हो गया!

इत्मीनान से कलम रखते हुए सोचा- गैबी ताकत का करिश्मा ही समझो नहीं तो हाईकोर्ट में तारीख पर तारीख पड़ने से यह पन्ने भी ताश के पत्तों की तरह वक्त द्वारा खेले जाते। प्रिय लेखक, तुमने कचहरी की मिस्लों से कुछ तो हासिल किया। लिख दिया। बाकी तो पाठक और आलोचक की निगाहों के लिये छोड़ दो।

उपन्यास खत्म कर लेने के बाद गहरे आराम में पिरोया हुआ हफ्ता बहुत देरी से हाथ में आया। बेमतलब इधर-उधर चाय-काफी! दिलबहलाव- नहीं, अभी नहीं। अभी तो पात्र यहीं आसपास चलते-फिरते दीख रहे हैं। शाम बालकनी में खड़े-खड़े आसमान को निहारो। धुपैली फेन

से नीले की जुगलबंदी। फिर देखते-देखते ग्रे, ग्रे से काले विस्तार पर खिल आए सितारों की फुलवाड़ी। उधर आंखों को तरावट पहुंची, इधर अपनी मेज का ध्यान आया। पास जा देखा- बेकार हुए पन्नों के ढेर! फाड़ने शुरू किए। एकाएक हाथ रुक गया। कैसी आवाज है यह कागज फाड़ने की! कुछ मन को हल्की करती, कुछ उदास करती। हर वार किसी पाठ के खत्म होने पर यही सिलसिला। पाठ में घुल जाते हैं शब्द, भाव और विचार! और विचार की खामोशियां। पहले से अंतिम पन्ने तक एक ही बैठक में सस्वर पाठ करने में दिल्ली शहर का संवाद उभर आया। इस पुरानी राजधानी के वाचन की अपनी ही बानगी और अपनी ही धार और तराश!

ऊपर से खाली लगता दिन, अंदर के कोलाहल को समेटता हुआ। पाठ पर दिया जाने वाला शीर्षक है लिखित का मुखड़ा। उसकी पहचान। उसकी साहित्यिक अस्मिता। शीर्षक दिया कि पांडुलिपि का वजूद, एक बड़ी दुनिया में; मार्किट में अपने नाम के साथ बाकायदा अपनी हस्ती में खड़ा हो जाये। क्या नाम, क्या शीर्षक दिया जाये? पहले तुम्हें हाथ लग चुके हैं। उस उपन्यास के शीर्षक के अतिक्रमण को कुछ देर के लिए पीछे ठेल दो! साफ-सुथरे दिल-दिमाग से मन ही मन पाठ पर निगाह डाली! उभर आई जनाब कृपानारायण साहिब की दानिशमंदी! फिर से तौलो महक बानो, कि वकील साहिब! फैसला कल तक मुल्तवी। आधी रात करवट ली तो आंखों के आगे दो शब्द तैर गये- दिल और दिमाग- दिलो-दानिश।

अभी लेखक की पीठ पर एक धकेल, एक सदमा और बाकी था।

सुबह, जो अपने लिए पहला पहर था- ख्वाब में देखा कि वकील साहिब अपनी लोहे की सेफ में से कुछ निकाल रहे हैं। ताली बंद कर किताबों के पीछे बने चोरखाने में रख दी और मेज पर एक लाल बही खोल ली। कुर्सी पर बैठे। बही की डोर खोली और चश्मा चढ़ा, एकाग्रता से कुछ लिखने लगे।

लेखक की आंख खुली तो होश फाख्ता थे। यह क्या! देखो! जनाब कृपानारायण साहिब ने चले जाने के बाद सपने में तुम्हें क्या दिखाया? लाल बही! वसीयत लिख रहे होंगे। सोच-सोच कर खीझ उठने लगी। अपने को लेखक समझते हो। उपन्यास ख़त्म कर दिया, वकील साहिब की वसीयत लिखे बिना? होगा कोई वकील जो अपनी वसीयत न लिखे और दुनिया से कूच कर ले! दिमाग के सब जोड़ बंद और सलामत तो हैं। वसीयत लिखना उसी का काम है जो लिख सके। दूसरों के लिए उनके फैसलों को कागज पर उतारना आसान नहीं! वसीयत लिखनी हो और वह भी वकील की और वकील भी दानिशमंदो के दानिशमंद- जनाब कृपानारायण साहिब! सिद्धड़ लेखक ने समझा था- उपन्यास खत्म हुआ लेकिन अभी यह मुश्किल काम बाकी था। आंखों से अपने लिखे पाठ को एक बार फिर फरोल डाला। कहीं से तो सूत्र मिले। आखिर अपने को भरोसा देने के लिए ताजे कागज निकाले और शुरुआत के लिए ख्वाजा का नाम लेकर कलम उठाई : "जिंदगी शमए-हयात है। दुनिया की महफिल में मुकर्रर वक्त तक जलती है और अपने को बच्चों में कायम करके गुल हो जाती है। जा मिलती है उसमें जो खुर्द से खुर्द, बारीक से बारीक, दूर से दूर और नजदीक से नजदीक है।

हम कृपानारायण, वल्द जनाब श्यामनारायण, साकिन कोठी किलामुख उर्फ हवेली चारबुर्जी, होशो हवास में अपने परदादा साहिब के दस्ते मुबारक से शुरू की गई दास्ताने खानदान में अपनी जिंदगी का आखिरी पन्ना जोड़ने जा रहे हैं। अपने ऊपर के सभी दस्तखत देखकर हम अपने और अपने बुजुर्गों के दरमियान बहुत कम फासला महसूस कर रहे हैं...

वसीयत के नीचे कृपानारायण साहिब के दस्तखत किए गये तो बेचारे लेखक ने बेफिक्री की सांस ली। लिखित का पाठ किया तो लगा संयुक्त परिवार के कर्ता की दानिशमंदी से किया गया यह निर्णय- हमेशा के लिए चले जाने की आखिरी तैयारी तो नहीं लगती। इस जहां की सरहद के पार पहुंच कर भी उनके ख्वाबों की डोर औलाद से बंधी रहेगी। अपने पोतों की आंखों से मनपसंद खोमचों को देखती रहेगी! दुनिया वक्त के साथ बदलती रहेगी पर इसी तरह कायम भी रहेगी।

जिंदगी के कमानचे के तार लगातार सारंगी के से सुर निकालते चले जाएंगे। उनके सामने लेखक की क्या बिसात! □

भारतीय साहित्य / मराठी

कृष्णचंद्र गुप्त

भारतीय साहित्य के गंभीर अध्येता तथा समीक्षक द्वारा मराठी की प्रसिद्ध लेखिका दुर्गा भागवत की कालजयी रचना *व्यासपर्व* के माध्यम से उनका पुण्य स्मरण

दुर्गा भागवत : व्यास पर्व के बहाने

प्रसिद्ध मराठी लेखिका दुर्गा भागवत के निधन का समाचार पढ़ा, तो स्तब्ध रह गया।

तीन दशक पहले जब मैंने 'व्यास-पर्व' पढ़ा था तो उसके सूक्ष्म निरीक्षण, प्रखर बौद्धिकता, विकट पर्यवेक्षण, अर्थ-गांभीर्य और विस्तृत फलक से बहुत प्रभावित हुआ था। भूमिका में ही लेखिका ने 'महाभारत' को दर्शन, अध्यात्म, नीति, संस्कृति, धर्म, सभ्यता आदि का ग्रन्थ सिद्ध करने के अनेक पूर्ववर्ती प्रयासों की सीमाएं उजागर करते हुए महाभारत को महाकाव्य के रूप में पहचानने की अपनी प्रतिज्ञा बड़ी प्रखरता से घोषित की है। अत: कथा, चरित्र, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जैसे या अन्य किसी पुरुषार्थ की काव्योचित अभिव्यक्ति के सौंदर्य को उजागर करना लेखिका का लक्ष्य बना और इस प्रयास में 'महाभारत' के पात्रों की मानव-सुलभ सद्-असद प्रवृत्तियों का जो ताना-बाना व्यास ने बुना है, उसके प्रत्येक रग-रेशे से दुर्गा भागवत ने परिचित कराया है- 'दो-दो विश्वयुद्धों की विभीषिका से क्षत-विक्षत आधुनिक जिजीविषा अपने लिए नये संबल खोजने में विफल है। इसी दृष्टि से महाभारत अभूतपूर्व रूप से महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। पिछले पचास वर्षों में (दोनों विश्व युद्धों के दौरान) युद्ध ध्वस्त विश्व में अमर श्रद्धा स्थानों की खोज बुद्धिवादियों द्वारा जिस प्रकार की गयी है, उस प्रकार पहले नहीं की गयी। मानवता के पैरों तले की धरती खिसकती जा रही है और संपन्नता के क्षणों में विनाश के बादल सारी संस्कृति को डुबो देने के लिए उठ रहे हैं।' तो इस वैचारिक संकट के समय में इस त्रासदी से उबरने के लिए 'महाभारत' की खोज लेखिका ने की।

भूमिका के पश्चात् ग्रंथ प्रारंभ होता है कृष्ण से, जिनके लिए 'पूर्ण पुरुष' का विशेषण दिया गया है। मानो एकमात्र इन्हीं में पुरुषत्व की पूर्णता व्यक्त हुई है। तलस्पर्शी चेतना से कृष्ण का निरूपण करते हुए लेखिका ने उनके व्यक्तित्व से गंध की लपटें उठती हुई देखी और सूंघी हैं। अन्य अवतारी एवं देवशक्तियों से अधिक कृष्ण जी रहे हैं, आज तक, क्योंकि वे मानव हैं। मात्र मानव ही नहीं, पुरुष हैं और वे पूर्ण पुरुष हैं। राधा-कृष्ण के प्रेम के विषय में लिखा है, ''मृत्यु में समायी अमरता की भांति प्रेम भी तभी सार्थकता पाता है, जब वह प्रिय के सहवास से सदा के लिए वंचित हो जाता है।'' मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की तुलना में कृष्ण को हर व्यापार में सीमाओं का अतिक्रमण करने में पारंगत माना गया है। उसे कलासक्त के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है। अनासक्त योगेश्वर कृष्ण ने समाधि लेने की अपेक्षा विजन में व्याध के शर से प्राण-विसर्जन किया : ''अपने ही व्यक्तित्व को अपने हाथों पोंछ देने का अपूर्व कौशल श्री कृष्ण में ही था।'' आज कृष्ण को इस रूप में प्रासंगिक माना गया है : ''कृष्ण नि:संदेह कृषिप्रधान संस्कृति का प्रतीक था। यदि वह वर्तमानकालिक यांत्रिक नागर-संस्कृति में रहेगा तो सिर्फ मखमल से मढ़ी मंजूषा का अलंकार बनकर, पौरुष, प्रीति, संगीत और दर्शन का प्रतीक बन कर... चूंकि हम जानते हैं कि अब हमारे बीच ऐसा महामानव जन्म नहीं लेगा, इसीलिए हम अतीत की महानता के आदर्शों पर गौरव करते हैं। प्रतीकों के रूप में उन्हें सहेजकर रखते हैं और सावधानी बरतते हैं कि कहीं ऐसा न हो, उनके और हमारे बीच कोई अंतर ही न रहे।'' प्रेरणा प्राप्त करने के लिए कृष्ण को अपने से विशिष्ट मानना आवश्यक है, वरना अपने अहं में डूबकर हम उनका वैशिष्ट्य ही खो बैठेंगे। इससे अधिक सटीक व्याख्या कृष्ण जैसे चरित्रों की और क्या हो सकती है, आज के संशयग्रस्त युग में!

कृष्ण के बाद आज की दृष्टि से ही नहीं, महाभारतकालीन दृष्टि से भी विवादास्पद व्यक्तित्व हैं द्रोणाचार्य, जिन्हें राई के तड़के की लपट कहा गया है। महाभारत की सबसे अधिक शोकांतिका एकलव्य का अंगूठा मांग लेना है। कहा गया है, इस घटना ने एकलव्य को नायक और द्रोण को खलनायक बना दिया। लेखिका का आकलन चौंकाने वाला है : ''दार्शनिक और राजनीतिज्ञ व्यास ने खुलेआम न्याय तो यही किया, पर उसमें छिपा कलाकार बहुत चतुर, बहुत धूर्त है। डांटिये, धमकाइए, वह नहीं सुनता। बाहर के व्यास का देखा सत्य वह नहीं मानता।'' .....''आंख देखेंगी, कान उसके प्रतिकूल सुनेंगे... उसी क्षण देखा उन्होंने एकलव्य की व्यथा द्रोण की चिर-व्यथा में तादात्म्य पा चुकी है। नहीं! वह कथा अब न एकलव्य की रह गयी है, न द्रोण की, अब वह भीषण शोक-कथा है- बुद्धिजीवियों की अविकसित आकांक्षाओं की। द्रोण ने एकलव्य का अंगूठा क्या कटवाया, बुद्धि और कौशल का नियोजन आरंभ करा दिया।'' ...''जहां एकलव्य का 'जीवन्त मरण'- शुरू

होता है, वहीं द्रोण के 'मृत जीवन' का आरंभ होता है।'' विरोधाभास की चमत्कारपूर्ण शैली का वैभव यहां दर्शनीय है और यह टिप्पणी आज कितनी सार्थक लगती है : ''बुद्धिवादियों की जड़ता संस्कृति का भीषण अभिशाप है.... क्योंकि जब तक वर्णसंकर ईर्ष्या से ग्रस्त बुद्धिवादी जीवित रहेंगे, तब तक राई का तड़का बराबर लपटें फैलाएगा।'' इसी संदर्भ में एक अन्य सूक्ति : ''दुखों को पी जाना एक श्रेष्ठ तपस्या है। समस्त कलाएं, दर्शन, सौंदर्य आदि की सार्थकता दुख पीने की शक्ति में निहित हैं। भुक्त दुख अभिनव प्रज्ञा देता है।'' द्रौपदी की तुलना में भी द्रोण दुर्बल और असमर्थ ठहरते हैं। पुत्र-मरण का दुख ''द्रौपदी जैसी नारी समझदारी से सह सकी, नये सिरे से औदार्य का पाठ पढ़ सकी, उसे द्रोण जैसे आचार्य, शूरवीर नहीं सह सके। रण-भूमि के बाहर द्रोण वीर पुरुष नहीं थे, विद्या के अखाड़े के बाहर वे ज्ञानी नहीं थे।'' उन्होंने जतन से रखा अपना राई का धधकानेवाला व्यक्तित्व। इस क्षुद्र व्यक्तित्व की शोकांतिका यदि कहीं उद्घाटित होती है तो युधिष्ठिर की उसी गुरु-द्रोह की घटना (अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो) में जहां द्रोण के द्वारा पांडव अवश्य दोहरे अन्याय (एकलव्य का अंगूठा कटवाने में तथा 'नरो वा कुंजरो' के द्वारा द्रोण की हत्या) के उत्तराधिकारी हुए। महान् जानकार मनुष्य का यही दौर्बल्य-चक्र लगातार घूम रहा है, कौन रोकेगा इसे ?'' कितना भीषण प्रश्न है यह!

और अब द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा, जो अंध-प्रतिशोध में 'जकड़े हुए क्षितिज' जैसा हो गया, जिसे युद्ध ने तोड़ दिया, जिसके कारण ''मूढ़ क्रूरता और क्रूरता में जितना भी रीतापन, बांझपन और बड़प्पन हो सकता है, वह अश्वत्थामा के माथे पड़ा।'' आटे में पानी मिलाकर उसे दूध बताकर पिलाने का प्रसंग दारिद्र्य का अविस्मरणीय दारुण प्रसंग माना गया है। द्रोण का अश्वत्थामा के प्रति पक्षपात और पिता-पुत्र दोनों के, आश्रित होने की विवशता ने दुर्योधन की अनैतिकता का विरोध नहीं करने दिया। द्रोण-हत्या के पश्चात् अश्वत्थामा का बैर ''किराये का नहीं, निजी हो गया।'' यहां लेखिका की तीक्ष्ण विवेचना की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। अश्वत्थामा के सेनापतित्व को लेखिका ने व्यास का साहित्य मय-गृह माना है, जिसमें ''सेनापति अश्वत्थामा अर्जुन की भूत जैसी परछाई दिखायी पड़ता है।'' यही अश्वत्थामा पशु बन गया, जब उसने धृष्टद्युम्न को ''वीरोचित मरण से वंचित करने के लिये पशु की तरह पैरों तले रौंदकर मार डाला।'' उसके मस्तक में मणि का प्रतीक भी गड़बड़ा गया- यदि जन्म से मणि थी, तो बचपन में दूध के लिये भूखा क्रंदन क्यों? ....कृष्ण के कथनानुसार अश्वत्थामा सात चिरंजीवियों में होते हुए भी अभागा है। जो ''संसार के हरेक मनुष्य के दुख-दैन्य की साकार निशानी बनकर जी रहा है। एक कोढ़, अकेला, परित्यक्त, दीन, याचक, जो तेल नहीं देता, उसे वह (अश्वत्थामा) अभिशाप देता है। ... महारोगी संसार को कोई वरदान नहीं दे सकता, ऐसी 'अभिशप्त अमरता' में अंकुर नहीं फूटते, वह सृजनशील नहीं होती।'' यह है लेखिका की क्रांतिदर्शी

प्रसिद्ध पंडवानी गायिका तीजन बाई की एक छवि-
चित्रकार हरिपाल त्यागी की दृष्टि में

प्रज्ञा, जिसने अश्वत्थामा जैसे अनेक व्यक्तियों के उजले-अंधेरे पक्षों को उद्घाटित किया है।

'खोयी व्यक्ति-रेखा के मनुष्य' के रूप में दुर्योधन का आकलन किया गया है। लंबे तने, खड़े पेड़ की सूखी, छितरी जड़ों जैसे दुर्योधन का ध्यान आते ही लेखिका, विषण्णता से घिर जाती है। वह उसे बाल-बुद्धि से संपन्न अधेड़ लगता है : ''उसका हृदय दो अपंग धृतराष्ट्र और गांधारी और उसमें सतत भय भरने वाले और उकसाने वाले आधा बाल-हृदय और आधा तरुण हृदय भीम का.... और आधा बाल-हृदय स्वयं दुर्योधन का, जो कभी बड़ा न हो सका, क्योंकि लाड़-प्यार में पले बच्चे कभी बड़े नहीं होते और लोभी भी, क्योंकि ''लोभ की अधीनता स्वीकार करने वाला मनुष्य ज्यादा दूर तक नहीं देख सकता।'' दुर्योधन को धृतराष्ट्र की सुप्त आकांक्षाओं का प्रकट रुपांतर माना गया है। कुंती के संदर्भ में यह सूक्ति देखें : ''विधवा माता की दृष्टि चील से भी अधिक तेज होती है''। द्रौपदी के चीरहरण-प्रसंग में द्रौपदी को जंघा दिखाने में दुर्योधन की कामुकता नहीं, अपितु प्रतिशोध में अपमानित करने की दुर्भावना अधिक है। वह विदुर और भीष्म का तिरस्कार करने से भी नहीं चूकता : ''आप रोटी हमारी खाते हैं और पांडवों को कंधे पर बैठाकर नाचते हैं।'' युधिष्ठिर ने भी दुर्योधन के शासन-काल को प्रजा के लिए अत्यंत सुखकर माना। मजबूत ऐंठ वाली रस्सी जैसा दुर्योधन लेखिका को

कभी छिछला नहीं लगता, लेकिन मृत्यु के भय से जल में छिप जाने के भीरूतापूर्ण काम ने उसे कमजोर कर दिया। उसका मैत्री-भाव कर्ण के संदर्भ में तो जगत-विख्यात है ही, युद्धभूमि में सत्याकि के प्रति भी व्यक्त हुआ है, "तुम मेरे प्राण-प्यारे मित्र हो। मैं भी तुम्हारे लिए यही हूं। आज तुम मुझसे लड़ने आये हो और मुझे बचपन का प्रेम याद आ रहा है। युद्ध में सब कुछ जलकर राख हो गया है। क्रोध और लोभ के अतिरिक्त युद्ध में रखा ही क्या है ?" लेकिन कठोर हृदय प्रौढ़ सत्याकि जहां का तहां था : "यह आचार्य का घर नहीं है। हम यहां खेलने नहीं आये हैं।" फिर भी दुर्योधन के सिर का जादू नहीं उतरा : "बचपन की क्रीड़ाएं कहां हैं ?" दुर्योधन का यह पक्ष अज्ञात नहीं था। महाभारत के क्रेंद में दुर्योधन है। वही युद्ध का प्रतीक बना है : "क्रूरता, संकीर्णता और विनाश युद्ध की यही विशेषताएं हैं।" इसीलिए लेखिका ने अर्जुन को नहीं, दुर्योधन को महाभारत का नायक और प्रणेता माना हैं। उसके अनुसार "ऐसे तो युद्ध का नायक होता ही कहां है ? युद्ध होते ही खलनायक के कारण हैं !"

अगला व्यक्तित्व है कर्ण का, जिसके साथ विडंबना, अभिशाप, प्रवंचना जन्म से ही जुड़ गयीं। इसीलिए इनके चक्रव्यूह में घिरने के कारण, जिसे लेखिका ने उसे 'एकाकी' विशेषण दिया है, लेकिन उसका महत्व देखें, "यदि कर्ण न होता, तो कौरवों के साथ न्याय करना व्यास के लिए संभव न होता, कर्ण न होता तो नैतिकता की चुनौती उग्र रूप धारण न कर पाती।" कृष्ण और कर्ण वस्तुत: "एक समान दार्शनिक भूमिका का पौरुष और चैतन्य की निर्भयता और निर्ममता की मूर्तियां मानी गयी हैं। कर्ण ने उपभोग का ऐश्वर्य तो जाना, लेकिन उसकी गुलामी स्वीकार नहीं की।" .... कर्ण सतत एकाकी था। अपने न्यायोचित स्थान से बहिष्कृत : "क्योंकि जाति-धर्म ने व्यक्ति की महानता की कभी कद्र न की।" कर्ण की निरुपम उदारता प्रशंस्य है, तो उसकी संस्कारहीनता खटकती है। द्रौपदी को राजसभा में गौ कहना तथा 'तेरे पांचों पति जाते रहे, तू अब कौरवों की दासी बनकर रह।' भीम को मूर्ख, पेटू, कायर कहना, द्यूत-प्रसंग में शकुनि की हिमायत करना, वनवासी पांडवों को अकेला पाकर उनका खात्मा करने की सलाह देना, ये सब कर्ण के ग्राम्य संस्कार कहे जा सकते हैं।"

भीष्म ने कर्ण को अर्धरथी कहकर अपमानित किया, इसीलिए उसने प्रतिज्ञा की, "जब तक आप जीवित हैं, मैं युद्ध नहीं करुंगा। यदि आपके हाथों पांडव मारे जाएंगे, तो मैं दुर्योधन की अनुमति से वनवास ग्रहण करुंगा, यदि आप पांडवों के हाथों मृत्यु पाएंगे, तो मैं एक ही रथ की सहायता से समस्त महारथियों का संहार करुंगा।" दो ही बार कर्ण की आंखों में आंसू आए, पहली बार भीष्म की मृत्यु पर और दूसरी बार अपने पुत्र की मृत्यु पर। महाभारत में शस्त्र-त्याग विषयक दो प्रतिज्ञाएं की गयीं थीं- पहली कृष्ण ने की जो भीष्म से अर्जुन के प्राण बचाने के लिये तोड़ भी दी। लेकिन दूसरी प्रतिज्ञा कर्ण की रही, जो नहीं टूटी, भीष्म के जीते-जी उसने शस्त्र नहीं उठाए। बगैर कटे, अनगढ़ हीरे-सा कर्ण कुंती को प्रताड़ित करता है, "तुमने मुझे फेंक दिया, यह अच्छा नहीं किया।" कुंती को उसने वचन दिया कि तुम्हारे पुत्र जीवित रहेंगे इसीलिए युधिष्ठिर और भीम को पकड़ लेने के बाद भी कर्ण ने उन्हें छोड़ दिया। एक बार भागते समय, अपने को कोसता हुआ कर्ण बोला, "कहते हैं धर्म उसी की रक्षा करता है, जो धर्म की रक्षा करता है। मैंने सदा धर्माचरण किया है। तब धर्म मेरी रक्षा क्यों नहीं करता? धर्म मेरे हृदय में संशय उत्पन्न करता है।" कर्ण के जीवन को समग्रता में देखें तो उसका कथन सत्य मालूम पड़ता है, किंतु सूक्ष्म दृष्टि से गड्ढों को देखने पर कर्ण के मर्मभेदी शब्द (द्रौपदी के लज्जा-हरण प्रसंग में उसकी स्वीकृति) भी याद आते हैं। अत्यंत न्यायपूर्ण कथन है लेखिका का। कर्ण का आचरण कभी-कभी क्रूर हो उठता है। अन्याय की ओर झुक जाता है। परंतु दैव ने उसके साथ जो निर्मम खेल खेला था, उसके लिए उपमा ढूंढना मुश्किल है... उसके जीवन-सर्वस्व का अपहरण उसी की माता ने, उसी के भाइयों ने किया है। एक ने लोकापवाद के भय से, दूसरों ने अनजाने में। कर्ण की तरह कुंती भी कर्ण-विषयक व्यथा के कारण उतनी ही एकाकी है, लेकिन लेखिका द्वारा उसका यह मूल्यांकन : "प्रत्येक युग में, प्रत्येक व्यक्ति में, प्रत्येक दुख-निराशा के क्षणों में, सुख की लालसा में, पराक्रम के दुर्दम्य आवेश में, स्नेह के आविष्कार में, एक कर्ण स्थान-स्थान पर अवतीर्ण होता है, मात्र क्षणार्ध के लिए। कर्ण किसी का नहीं है, कर्ण एकाकी है, शिखर की भांति ऊंचाइयों के पार चला जाता है, परंतु सबकी वेदना का, स्वाभिमान का, पराक्रम का और सज्जनता का प्रतीक सिर्फ एक ही है और वह कर्ण है, इसमें सन्देह नहीं।" दुर्योधन की प्रत्येक दुष्टता में साथ देने वाले कर्ण को सज्जनता का प्रतीक कैसे माना जा सकता है ?

धनुर्धारी अर्जुन को 'परीकथा से सत्यार्थ की ओर' जाने वाले के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। द्रौपदी, उलूपी, चित्रांगदा से विवाह करने वाला, उर्वशी के प्रणय-प्रस्ताव को ठुकराने वाला, विराट द्वारा प्रस्तावित उत्तरा को पुत्रवधू बना लेने वाला अर्जुन, कर्ण का एकमात्र शत्रु, गीता-ज्ञान का प्राप्तकर्ता है। उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए उसका भीम और युधिष्ठिर से साम्य और वैषम्य भी रेखांकित किया गया है। कृष्ण के प्राण अर्जुन में और अर्जुन के प्राण कृष्ण में बताकर दोनों को अभिन्न बना दिया है व्यास ने। फिर उसकी नैतिक चेतना, जो द्रोण के प्रति युधिष्ठिर के असत्य-आचरण का समर्थन नहीं करती, स्वयं अपने पुत्र बभ्रुवाहन द्वारा राजसूय-यज्ञ में राज्य-अर्पण को उसे अपने क्षत्रियत्व का अपमान लगा : "मैं राज्य लेता हूं, तो जीतकर लेता हूं।" युद्ध-क्षेत्र में दिये गये गीता का ज्ञान वह भूल गया। फिर सुनना चाहता है। तब कृष्ण उसे फटकारते हैं। इस संदर्भ में लेखिका की यह टिप्पणी कि मनुष्य-बुद्धि संपन्न होने के कारण जीवनाभुव पाने की पात्रता रखता है, सत्य के प्रति जिज्ञासु ही अमृत का खोजी होता है। ऐसे सत्यार्थी के हाथ सत्य का मात्र एक कण लगता है। वही उसका जीवन-दर्शन बन जाता है, क्योंकि "प्रत्येक मनुष्य का दर्शन उसके मन के आकार जितना

होता है। जो अतिरिक्त होता है, बह जाता है, धुल जाता है। क्या अर्जुन ने भी यही सीखा था?" लेखिका उत्तर के बजाय प्रश्न खड़ा करती है, जो पाठक की चेतना को उद्‌बुद्ध कर देता है।

अर्जुन के व्यक्तित्व के संदर्भ में भीम का भी उल्लेख है। लोकजीवन में भीम सभी भाइयों से अधिक प्रिय और संभ्रम का पात्र है : "समूचे भारत में यह (भीम की ख्याति) स्थान-स्थान फैले जीर्ण-शीर्ण भग्नावशेषों, प्रचंड शिलाखंडों और अधूरी मूर्ति-सज्जित गुफाओं के संदर्भों में सुनायी जाती है।" भीम की इस लोकप्रियता का दिग्दर्शन लेखिका की मौलिक सूझ कही जा सकती है। अन्य पात्रों के महिमामंडन की प्रदर्शनी में लेखिका के अनुसार अर्जुन का व्यक्तित्व फीका लगता है, जबकि साहित्य तथा लोकमानस में ऐसा नहीं है।

सर्वाधिक विवादस्पद और दुविधाग्रस्त व्यक्तित्व-युधिष्ठिर को लेखिका ने 'मुक्त पथिक' कहा है। उसका आकलन करते हुए शेष चारों भाइयों की तुलना में युधिष्ठिर की विरक्ति, ब्राह्मण-बुद्धि, क्षमा और शांति को रेखांकित किया है : ब्राह्मणों से बड़े ब्राह्मण, क्षत्रियों से अलग क्षत्रिय, जनक और बुद्ध की परंपरा की कड़ी, अजातशत्रु होते हुए भी उसे जीवन-भर शत्रुता से लड़ना पड़ा। शत्रुता अर्थात् क्षुद्र और आसुरी मानसिकता से। कठोर संयम और दुर्निवार कोमलता, जागृति और स्वप्निलता का समन्वय लेखिका को उनमें दिखायी पड़ता है। साथ ही नादान जुआरी, अपमान को भुलाकर, पिलपिले जीवन-दर्शन से चिपकने वाले मूढ़ क्षत्रिय, सत्वहीन पति, कृतघ्न और झूठे शिष्य के रूप में भी उसका चित्रण है लेकिन लेखिका उनकी चिंतनशीलता से प्रभावित है। मनुष्य को ही व्यास के जीवन-दर्शन की कसौटी माना गया है- जैसे मनुष्य का स्वप्न, वैसी उसकी नियति। वनवास के दौरान भाइयों के द्वारा प्रताड़ित होने पर युधिष्ठिर कहते हैं : "द्यूत खेलते समय तुम लोगों ने कुछ नहीं कहा। अगर मैं जीत जाता, तो भी तुम कुछ नहीं कहते।" कर्ण से आतंकित होने पर युधिष्ठिर अर्जुन को धिक्कारते हैं, तब अर्जुन कहते हैं कृष्ण से : "मैं तुम्हारे सामने पहले इसी की गर्दन उड़ाता हूं... पाप तुमने (युधिष्ठिर ने) किया है। मुझे कटु बातें सुनाकर जी न जलाइए।" व्यास को तो लेखिका ने धूर्त कहा ही है, कृष्ण के विषय में भी वे नहीं चूकतीं : "कृष्ण ने धूर्ततापूर्वक कहा- "बंधु-हत्या से आत्महत्या का पाप बड़ा कहा गया है। आत्महत्या अपराध है।" आत्महत्या के लिए तत्पर अर्जुन से कृष्ण ने यह कहा था! युद्धोपरांत युधिष्ठिर की ग्लानि बड़ी मर्तान्तक हो उठी : "कैसे यह काला मुंह दिखाऊंगा बेटियों और बहुओं को? कैसे देख पाऊंगा उनके रीते ललाटवाले मुखों को? दुर्योधन! तुम तो स्वर्ग चले जाओगे, हमें यहीं इसी नर्क में रहना है और आंसू बहाना है।" युद्ध का फल यह मिला। कृष्ण से भी युधिष्ठिर कहते हैं : "एक की मृत्यु का अर्थ दूसरे की विजय नहीं है। युद्ध में ऐसा है क्या, जो अच्छा है!" यह ब्रह्मज्ञान सर्वनाश के बाद ही तो मिला युधिष्ठिर को, लेकिन अर्जुन कहता है : "भूल जाइए द्रौपदी का भरी राजसभा में हुआ अपमान, वनवास, कीचक का प्रहार, सब भूल जाइए। युद्ध सिर्फ युद्ध है। युद्ध में न कोई मित्र होता है, न शत्रु। युद्ध सिर्फ निर्णय की मांग करता है।"

व्यास ने भी समझाया युधिष्ठिर को : "सुख हो या दुख, जो मिल रहा है उसे लेना होगा। हमेशा सुख नहीं मिलता। दुख भी हमेशा नहीं रहता। हृदय को अपराजेय बनाकर, जो सामने दिखायी पड़े उसे ग्रहण करो।" बुद्धिजीवी होने के कारण युधिष्ठिर सदा सशंक रहते हैं : "उच्चतम नीतिमत्ता उनका धर्म था। उन्होंने जान लिया था कि मनुष्य दैनंदिन जीवन और विशिष्ट प्रसंग के अंतर्गत जो आचरण करता है, वह सब जीवन-दर्शनों का मूलाधार है.... प्रभुता और सत्ता की शोभा है क्षमा।" लेकिन युधिष्ठिर का द्यूत-व्यसन, द्रोण की हत्या का षड्यंत्र, भरी सभा में पत्नी के लज्जाहरण को देखना। लगता है कि लेखिका ने युधिष्ठिर के प्रति पक्षपात किया है।

अपनी विलक्षण पितृभक्ति क्या, पितृवासना की तृप्ति को निष्कंटक बनाने वाले और रूप से निपूते होकर भी भीष्म पितामह के विरुद से ग्रंथों में ही नहीं, लोकजीवन में भी प्रख्यात हुए। भरे तारुण्य में स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य धारण करने के कारण तरल संवेदनाओं से शून्य हो गए, क्योंकि तब आंसू खो जाते हैं, वृद्ध महाभारत में और भी हैं, लेकिन पितामह के विरुद के साथ परिपक्वता, संतुलन, अनुभव-संपन्नता उन्हीं को मिली। अष्टावक्र और पुरू से तुलना करने पर भीष्म कहीं अधिक काम्य दिखायी पड़ते हैं। जवानी में आंसू (तरल संवेदन-क्षमता) खो देने वाले भीष्म "बेटे, बहुओं, नाती-पोतों, पूरे परिवार के सुख-दुख को अत्यंत सुकुमारता से सहलाते रहे। मुमुक्षु बनना भी नहीं चाहते थे वे ,लेकिन सिर्फ स्वर्ग और धरती के संपूर्ण अंतर को समाप्त कर दोनों को एक ही धरातल पर लाने में सचेष्ट रहे। भीष्म को संसार के विस्तार में विरक्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने को बाध्य होना पड़ा।" भीष्म की कथा में अंबा का प्रसंग कुरु-वंश की वृद्धि और विनाश का प्रतीक है। दुर्योधन ने उन पर लांछन लगाया : "आपके मन पर तो पांडव छाये हुए हैं। आप मन लगाकर युद्ध करते ही नहीं।" उनका उत्तर "मुझसे जो बन पड़ा है, किया है, कर भी रहा हूं, किन्तु पांडव अजेय हैं।" भीष्म की विवशता का यह अंकन बड़ा मार्मिक है : "भीष्म का अति दीर्घ जीवन, सर्पगति मृत्यु, उनकी सदा झुकी गर्दन, दूसरों के दुखों को देखकर तड़पती-सूखी आंखें, क्रोध के उद्‌गार भी ऐसे, जैसे सूखे पत्तों का मर्मर हो।" भीष्म को ही, लेखिका ने पहली पीढ़ी की अंधता, अपमृत्यु, दूसरी पीढ़ी के विलक्षण विरोधी गुण-दोषों के विस्तार और समस्त महाभागों और खल-पुरुषों का एक ही धरातल पर उतर आने का स्रोत माना है। इसीलिए भीष्म का चित्र लेखिका के अनुसार रंग उड़ी, इधर-उधर फटी-उघड़ी पुरातन कलाकृति के रूप में व्यास ने प्रस्तुत किया है।

विदुर को 'मनुष्य में विलीन मनुष्य' रूप में निरूपित किया गया है। जंगली फूल जैसा उनका व्यक्तित्व, आत्मानुशासन, सत्ताहीन सज्जनता, निर्मल आत्म-परीक्षण का साकार रूप है। ब्राह्मण-पुत्र होकर भी, दासी-पुत्र होने के कारण वे ब्राह्मण नहीं कहलाए, लेकिन व्यवहारवाद की कसौटी पर विशुद्ध नैतिकता को कसनेवाले, अतिरिक्त,

व्यर्थ और अनावश्यक तथा बिना पूछे न बोलने वाले सर्वकालिक शांतिमय जीवन के प्रतिपाद थे विदुर। तभी तो युधिष्ठिर उन्हें भक्त, गुरु, पालक, पिता, सखा, अगाध बुद्धि के स्वामी तथा दीर्घदृष्टि (दूरदृष्टि) संपन्न मानते हैं। धृतराष्ट्र को यह कहने में विदुर को कोई संकोच नहीं होता : "कर्ण, दु:शासन, शकुनि और दुर्योधन को सारा कारोबार सौंपकर आप यश की कामना कर रहे हैं?" वे क्षमा को वशीकरण और सब कुछ प्राप्त करने वाली मानते हैं, क्योंकि "अगर चिंगारी घास-पातहीन जमीन पर गिरती है तो अपने आप बुझ जाती है"। विदुर ने ब्रह्मज्ञान की अपेक्षा, सनातन आचारमय नैतिकता को गौरवान्वित करने वाली माना है, "मनुष्य मूलत: मनुष्य है। उसका लक्ष्य भी मनुष्य ही है। यही विदुर के जीवन का सार है।"

द्रौपदी विषयक निबंध को 'कामिनी' शीर्षक दिया है। महाभारत की केंद्रीय पात्र होने के कारण द्रौपदी के व्यक्तित्व के अनेक आयाम उद्घाटित हुए हैं, लेकिन सबसे पहले वह मनस्विनी, स्वाभिमानिनी और तेजस्विनी है, जिसे हवा के झोंको से हिलती दीप-ज्योति कहा गया है, जो संकट की हवा के गुजरते ही जलकर बुझ जाती है। उसने जन्म उपभोग के लिए नहीं पाया है बल्कि जलने के लिए और जलाने के लिए पाया है। कामकलिका द्रौपदी बुद्धि से चपल और सुसंस्कृत है, 'संगमोत्सुका तरुणी' है वह। तीक्ष्ण निर्णयशील बुद्धि तथा प्राकृतिक वासना और रूपगर्विता के तत्व उसमें हैं। कृष्ण के प्रति उसमें भक्ति, प्रणय और सख्य है। विवाह-पूर्व कृष्ण से उसकी निकटता का कोई उल्लेख न करने के कारण लेखिका ने व्यास को 'धूर्त' बताया है। यह शब्द लाड़-प्यार में कहा गया 'चतुर' के अर्थ में है, पाठक को भरमाने के लिए। इसमें दुष्टता खोजना अन्याय होगा, भले ही शब्द वैसा प्रयुक्त हुआ हो। एक और अनुमान है लेखिका का कि कृष्ण द्रौपदी-स्वयंवर में तमाशाई बनकर नहीं गये। वह तो ब्राह्मण-वेश में अर्जुन दिखायी पड़ गया, तब उनका विचार बदला। यह अति कल्पनाशीलता है लेखिका की लेकिन एकदम अविश्वसनीय भी नहीं लगती। द्रौपदी का रूप-सौंदर्य, वाणी-माधुर्य वनपर्व में खिल उठता है। कृष्ण के प्रति उसका यह आरोप-आक्रोश, उनके प्रति उसके निगूढ़ भाव को व्यक्त करता है : "मेरे कोई पति नहीं, पुत्र नहीं, सगे-संबंधी नहीं, भाई नहीं, पिता नहीं और कृष्ण! तुम भी नहीं हो। यह अनुभूत भाव है कृष्ण के प्रति।" द्रौपदी की चार भूमिकाएं हैं- प्रिया, सुंदरी, पतिव्रता और पंडिता। इनसे अलग तेजस्वी मानवी के साथ-साथ शालीन, कुलीना, पातिव्रत्य की मर्यादा से बंधी हुई। द्रौपदी के पंडिता स्वरूप की झांकी चीरहरण प्रसंग में मिलती है : "तुमने पहले किसको दांव पर लगाया? खुद अपने को या मुझे?" इस प्रकार युधिष्ठिर के अधिकार की धज्जियां उड़ायीं और फिर अपमान से खौलते हुए भी उसने सत्य का जो स्वरूप निर्धारित किया, उसके आगे भीष्म, विदुर, युधिष्ठिर सबकी नीतिमत्ता बौनी लगती है : "जहां वृद्ध नहीं, वह सभा नहीं। जो धर्म की व्याख्या नहीं करते, वे वृद्ध नहीं। जिसमें सत्य नहीं, वह धर्म नहीं, जिसमें छल-कपट है, वह सत्य नहीं।" युधिष्ठिर के लिए दासी, अर्जुन के लिए प्रेयसी, भीम के लिए स्वामिनी और नकुल-सहदेव के लिए माता-इतनी विभिन्न भूमिकाओं में द्रौपदी का व्यक्तित्व प्रस्फुटित हुआ है, लेकिन जब युधिष्ठिर उसे क्षमा का पाठ पढ़ाते हैं, तब वह फट पड़ती है : "दुख ने मुझे विदीर्ण कर दिया है। मैं बड़बड़ाती हूं, रोती हूं। आप ध्यान न दें।" उसकी यह कातरता क्षणिक है- उसका लपलपाता रूप तो यह है : "समुद्र को हटाया जा सकता है, पर्वत को तोड़ा जा सकता है, दुर्योधन किस खेत की मूली है।" फिर उसकी कातरता प्रकट होती है व्यंग्य के रूप में विराट-पर्व में : "जिसका पति युधिष्ठिर जैसा पुरुष हो, उसका सुख से क्या वास्ता!" इस प्रकार व्यास द्वारा प्रस्तुत द्रौपदी का निरूपण करने के बाद लेखिका का यह निष्कर्ष विचारणीय है : "भारतीय जनमानस में द्रौपदी ने सीता या सावित्री की भांति चिरंतनता नहीं पायी... भारतीय नारी के जीवन संस्कार में उसका स्थान अत्यंत गौण है... द्रौपदी का व्यक्तित्व कमनीय तो है, किंतु प्रेरणादायक नहीं, क्योंकि उसमें निहित पार्थिवता का विलक्षण चैतन्यमय स्रोत ही ऐसा है, जो कुछ ही लोगों को कभी किसी क्षण में दृष्टिगोचर हो सकता है।" चलो, यह तो माना लेखिका ने। सबको हमेशा नहीं, कुछ को कभी किसी क्षण में द्रौपदी के व्यक्तित्व का यह रूप उद्भासित हो सकता है। डॉ. राममनोहर लोहिया ऐसे ही विचारक थे। वे सीता की अपेक्षा द्रौपदी को भारतीय नारी का जीवंत-ज्वलंत प्रतिनिधि/प्रतीक बनाना चाहते थे। 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी' या 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' के स्थान पर संघर्षशाली, अन्याय-अत्याचार से जूझनेवाली, दुराचार-अनैतिकता से टकराने वाली, यज्ञाग्निसंभवा, याज्ञसेनी के रूप में आधुनिक भारतीय नारी को प्रतिष्ठित करना चाहते थे, वे जिस नारी को शास्त्र और लोक के परंपरागत अन्याय, अत्याचार को मुंह बंद करके सहन करने वाली काली गाय के रूप में महिमामंडित किया गया है। इस दृष्टि से लेखिका की क्रांतिकारी भावना डॉ. लोहिया से मेल खाती है- किसने किससे प्रेरणा ली? यह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण यह है कि द्रौपदी के रूप में भारतीय नारी को एक जुझारू प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयास का शुभारंभ दिखायी पड़ता है।

व्यास-पर्व के माध्यम से दुर्गा भागवत के चिंतन-मनन, विवेचन-विश्लेषण, तर्क-वितर्क, कल्पना-यथार्थ, सृजनात्मकता-वैचारिकता, तलस्पर्शी निरुपण, मूल्यांकन की विलक्षण क्षमता से अभिभूत हुए बिना नहीं रहा जा सकता। आज के नारी-विमर्श के तुमुल कोलाहल-कलह में 'व्यास-पर्व' में व्यक्त प्रज्ञा की इस स्वर-लहरी को सुना ही नहीं, समझा भी जाना चाहिए और इसमें निहित वैचारिक तेजस्विता से संदेह के कुहासे को चीर देना चाहिए। मात्र दस निबंधों और एक भूमिका ने मानवीय चेतना के इतने विविध रूपों का इतना गंभीर, सूक्ष्म पर्यवेक्षण अपने आप में एक विलक्षण घटना है, जो व्यावसायिकता, फूहड़ता, हिंसा और यौन-तांडव की धमाचौकड़ी में साहित्य की शक्ति के प्रति आश्वस्त करती है। □

शशिभूषण द्विवेदी

चर्चित युवा कथाकार द्वारा पी. लाल के वैकल्पिक प्रकाशन का परिचय

राइटर्स वर्कशाप : साहित्यिक ख्याति का स्प्रिंगबोर्ड

अंग्रेजी में लिखने और अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा पाने के अलावा विक्रम सेठ, अनीता देसाई, जयंत महापात्र, प्रीतीश नंदी, रस्किन बांड और शशि देशपांडे के बीच एक और चीज कॉमन है। वह यह कि ये सब कोलकाता के राइटर्स वर्कशाप की खोज हैं। इन सबकी पहली किताब यहीं से प्रकाशित हुई, जिसने इन्हें अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा दिलाई।

राइटर्स वर्कशाप यानी लेखकों की कार्यशाला। यूं तो यह इसके संस्थापक पी. लाल की जेबी संस्था थी, लेकिन अनजाने ही यह प्रकाशन की दुनिया की एक बड़ी घटना बन गई, जिसके बारे में पी. लाल ने खुद भी कभी कल्पना नहीं की थी। 1958 में स्थापित इस संस्था की पहचान आज भी लेखक बनाने वाले एक संगठन के रूप में ही है। खासकर अंग्रेजी साहित्य की कई महत्वपूर्ण प्रतिभाओं की खोज का श्रेय इसी को जाता है। इसके अलावा राइटर्स वर्कशाप ही है जिसने भारत में पहली बार वैकल्पिक प्रकाशन के क्षेत्र में एक बड़ा प्रयास किया। इसके खाते में एक-दो नहीं, दर्जनों उपलब्धियां दर्ज हैं। अब तक इस संस्था से 3000 पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। 1995 तक प्रतिवर्ष औसतन 100 पुस्तकों के प्रकाशन का श्रेय भी इसी को है। आश्चर्य तो यह है कि इतना सब अकेले एक ही आदमी के दम पर हुआ। राइटर्स वर्कशाप का न तो कहीं कोई ऑफिस था और न कोई स्टाफ। पुस्तकों की बिक्री का नेटवर्क भी तब इनके पास नहीं था। सब कुछ इसके संस्थापक पी. लाल के तीन कमरों के मकान में आपसी सहयोग से होता था। लंबे समय तक इस संस्था से जुड़े रहे अंग्रेजी के लेखक जयरतन कहते हैं, 'राइटर्स वर्कशाप मूलतः पी. लाल के ही दिमाग की उपज थी। 1958 की बात है। पी. लाल कोलकाता में अंग्रेजी के प्रोफेसर थे और कविताएं लिखा करते थे। वे बहुत गहराई से भारतीय सांस्कृतिक प्रतीकों से जुड़े थे। कोलकाता में लेक गार्डन में उनका छोटा सा मकान था। हर रविवार हम तीन-चार मित्रों का वहां अड्डा जमता था। अड्डेबाजी की ऐसी ही एक शाम पी. लाल के दिमाग में राइटर्स वर्कशाप का विचार आया। भारतीय अंग्रेजी साहित्य के महत्व को लेकर पी. लाल एकदम स्पष्ट थे और शुरू में ही उन्होंने वैकल्पिक प्रकाशन की योजना बना डाली थी।

उस समय नये लेखकों की किताबें कोई नहीं छापना चाहता था। खासकर अंग्रेजी की स्थिति तो बहुत ही खराब थी। पहले तो हमने राइटर्स वर्कशाप से अपनी ही पुस्तकें छापीं और उनके वितरण की व्यवस्था भी खुद ही की। इसका 'लोगो' भी लाल ने खुद ही डिजाइन किया था। किताबों की कैलीग्राफी भी वे खुद करते थे। किताबों का मुद्रण, डिजाइनिंग, प्रूफ, सबकुछ लाल साहब के ही जिम्मे था। उनके घर की लाइब्रेरी ही एक तरह से राइटर्स वर्कशाप का कार्यालय थी। राइटर्स वर्कशाप से कई महत्वपूर्ण लेखकों की किताबें प्रकाशित हुई जिनमें केकी दारुवाला, अनीता देसाई, प्रीतीश नंदी, रस्किन बांड, सीताकांत महापात्र, मोनिका वर्मा, शिव के. कुमार, निसिम एजेकेल, ए. के. रामानुजम, जग सूर्या और लक्ष्मी खन्ना प्रमुख हैं।

पी. लाल द्वारा अंकित राइटर्स वर्कशाप का लोगो, जिसका आधार भारतीय संस्कृति का प्रतीक कल्पवृक्ष है।

इनमें से कई लोगों को बाद में साहित्य अकादमी और दूसरे बड़े पुरस्कार भी मिले। खुद जयरतन को अनुवाद के लिए बाद में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया और उनकी पुस्तकें पेंगुइन और साहित्य अकादमी से प्रकाशित हुईं।

शुरू में राइटर्स वर्कशाप की एक कैबिनेट भी बनी जिसमें पी. लाल को सचिव बनाया गया तथा सबसे बुजुर्ग होने के कारण जयरतन अध्यक्ष बने। देवकुमार दास, अनीता देसाई, विलियम हल, षष्ठीव्रत, प्रदीप सेन, केवलिन सियो कैबिनेट के सदस्य थे। ये सभी कोलकाता की महत्पूर्ण हस्तियां थीं। प्रदीप सेन ब्रह्म समाज के संस्थापक केशवचंद्र सेन के पौत्र तथा एक ब्रिटिश औद्योगिक संस्थान के बड़े अधिकारी थे। जयपुर की महारानी गायत्री देवी से उनकी रिश्तेदारी थी। वे कविताएं लिखते थे और उनका कविता संग्रह 'ऐंड देन द सन' राइटर्स वर्कशाप से ही आया था। देवकुमार दास कैम्ब्रिज से अर्थशास्त्र पढ़कर आये थे। बाद में वे साइबरनेटिक्स के अध्ययन के लिए वाशिंगटन गए और वहीं बस गए। देवकुमार दास की प्रतिभा बहुआयामी थी। वे एक अच्छे चित्रकार थे। कविताएं भी लिखते थे। भारत और अमेरिका

चित्रकार थे। कविताएं भी लिखते थे। भारत और अमेरिका में उनकी कई चित्र प्रदर्शनियां आयोजित की गयीं।

केवलिन सियो कोलकाता में बस चुके चीनी दंत चिकित्सक और सिक्किमी मां की संतान थीं। भारतीय साहित्य में उनकी गहरी रुचि थी। उनके दो कहानी संग्रह 'ए स्माल वर्ल्ड' और 'लेट्स गो होम' भी प्रकाशित हुए। बाद में वे मुंबई रहने लगीं। षष्ठीव्रत ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने के बावजूद आजन्म विद्रोही रहे। बाद में वे अमेरिका में बस गए। अमेरिका में उनके कई उपन्यासों का प्रकाशन हुआ जिनमें 'माइ गॉड डाइड यंग', 'कनफेशंस ऑफ एन इंडियन वूमेन ईटर', 'शी ऐंड ही' प्रमुख हैं।

हर रविवार इस कैबिनेट की मीटिंग होती, जिसमें प्रकाशन के लिए आयी पांडुलिपियों के चयन पर सामूहिक निर्णय लिए जाते। दूसरे प्रकाशनों से आई बेहतरीन किताबों की चर्चा होती। ज्यादा से ज्यादा लोगों को राइटर्स वर्कशाप से जोड़ने की रणनीति बनाई जाती। राइटर्स वर्कशाप का एक ढीला-ढाला संविधान भी बनाया गया था। इससे विवादों से बचने में उन्हें काफी मदद मिली। पी. लाल हमेशा नये और प्रतिभाशाली लेखकों की खोज में रहते। किताबों को लेकर जैसे उनके भीतर एक जुनून था। इसके लिए उन्होंने दस-बारह बार विदेश यात्राएं की। विदेशों से उनके संपर्कों का राइटर्स वर्कशाप को काफी लाभ मिला, खासकर उससे जुड़े नए लेखकों के लिए तो यह अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा पाने का एक मंच- एक स्प्रिंगबोर्ड ही बन गया था। बाद में हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं की कई महत्वपूर्ण कृतियों का अंग्रेजी अनुवाद भी राइटर्स वर्कशाप ने कराया। हिंदी में प्रेमचंद, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद आदि की महत्वपूर्ण कृतियों का अंग्रेजी अनुवाद हुआ। वेद मेहता, जे.बी.एस. हालडेन और डोनाल्ड कीनी ने इसमें काफी सहयोग दिया। जे.बी.एस. हालडेन ने जापानी साहित्य का भारतीयों से परिचय कराया। बाद में नागरिकता लेकर वहीं बस भी गए। वेद मेहता अपने समय के महत्वपूर्ण पत्रकार थे और उस समय न्यू यार्कर में काम करते थे। जब कभी वे कोलकाता आते, राइटर्स वर्कशाप में जरूरत जाते। अरविंदम बसु आईआईटी खडगपुर के छात्र थे। उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'पिकारो और मी' भी राइटर्स वर्कशाप से ही प्रकाशित हुआ था। लेकिन ऐसा नहीं है कि राइटर्स वर्कशाप से आई हर कृति महत्वपूर्ण ही रही हो। 3000 पुस्तकों में बहुत सी साधारण भी हैं, इसके बावजूद अपनी प्रस्तुति और तूफानी गतिविधियों के कारण यह बहुत जल्द कोलकाता का महत्वपूर्ण सांस्कृतिक मंच बन गया। जयरतन उस समय को याद करते हुए कहते हैं कि तब शायद ही कोई ऐसा महत्वपूर्ण लेखक हो, जो कोलकाता आने के बाद राइटर्स वर्कशाप में आमंत्रित न हुआ हो। गुंटर ग्रास, नीरद सी. चौधरी, मुल्कराज आनंद, आर.के. नारायण, पर्ल बक, स्टीफन स्पेंडर, एलन गिंसबर्ग आदि विशिष्ट लेखक राइटर्स वर्कशाप में आमंत्रित होकर फख्र महसूस करते थे। गुंटर ग्रास वर्कशाप में नियमित आते, लेकिन बहस में उनका मन ज्यादा नहीं लगता था। ज्यादातर वे श्रोताओं में बैठी किसी सुंदर कन्या को ही ताकते रहते और उसे प्रभावित करने का मौका देखते। बाद में जब दुबारा कोलकाता आये तो काफी समय गरीबों के साथ झोपड़पट्टियों में रहे और भारत की आत्मा से साक्षात्कार किया। नीरद सी. चौधरी व्यवहार से लेकर पहनावे तक हर तरह से अंग्रेजी रंग में रंगे थे।

राइटर्स वर्कशाप में बोनी एस. क्राउन भी कई बार आईं। वे न्यूयार्क में एशिया सोसायटी की सचिव थीं और अमेरिका में प्रकाशन के लिए उन्होंने भारतीय लेखकों की काफी मदद की। राइटर्स वर्कशाप का लेटरहैड भी पी. लाल ने खुद ही डिजाइन किया था, यहां तक कि एक खास तरह की स्याही भी जो बाद में उन्होंने नोबेल विजेता पर्ल एस. बक को भी भेंट की। शुरू में वर्कशाप की किताबें हैंड मशीन से पी. के. आदित्य ने लेक गार्डन प्रेस में ही छापीं। कुछ किताबें कोलकाता के कैथोलिक आरफन प्रेस में छपीं। खास बात यह है कि आज आफसेट के जमाने में भी राइटर्स वर्कशाप की किताबें हैंड प्रेस में ही छपती हैं। लेकिन देखने में अत्यधिक सुंदर और अप्रतिम। किताबों की बाइंडिंग उड़ीसा से मंगाई गई कॉटन हैंडलूम की साड़ी से तुला मियां मोहिउद्दीन करते, जिससे उनकी खूबसूरती और बढ़ जाती। अपने इस हुनर के लिए तुला मियां को राष्ट्रपति पुरस्कार भी मिला। पूर्व प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी तो इन किताबों से इतनी प्रभावित हुईं कि अपनी विदेश यात्राओं में इन्हें अपने साथ ले जातीं और विदेशी राजनयिकों को उपहार में देतीं।

1956 से 1965 तक का समय राइटर्स वर्कशाप के लिए काफी संघर्षपूर्ण था। बाद में इसकी प्रतिष्ठा ओर यश बढ़ने के साथ-साथ इसकी मुश्किलें कुछ कम हुईं। लेकिन इसका उद्देश्य और काम का तरीका नहीं बदला। पी. लाल राइटर्स वर्कशाप के उद्देश्य और काम के तरीके के बारे में अपनी डायरी में लिखते हैं- 'मैं दुनिया में अकेला प्रकाशक हूं, जो जानता है कि कब और कहां कोई किताब बेची जा सकती है। मेरे पास व्यक्तिगत रूप से राइटर्स वर्कशाप के हर खरीदार का पता मौजूद रहता है। राइटर्स वर्कशाप का कोई कार्यालय नहीं है, न ही कोई सहयोगी। जहां भी मुझे कोई ऐसा प्रतिभावान लेखक मिलता है, जिसकी किताब बड़े प्रकाशक छापना पसंद नहीं करते, मैं उसके साथ एक समझौता करता हूं, जिसके तहत पुस्तक का कापीराइट लेखक के पास ही रहता है। मैं कविता की 350 और गद्य की 500 प्रतियां छापता हूं जिसमें 10 प्रतिशत पुस्तकें लेखक को रायल्टी के रूप में दी जाती हैं। इसके अलावा लेखक से उम्मीद की जाती है कि वह अपनी पुस्तक की कम से कम 100 प्रतियां अग्रिम खरीदे। हां, मैं स्वीकार करता हूं कि मैं पुस्तकों को प्रयोजित करता हूं। लेकिन यह सब मैं उसी के लिए करता हूं जिसमें मैं बेहतर लेखन की संभावनाएं देख पाता हूं। अधिकांशतः नए प्रतिभाशाली लेखकों की पहली पुस्तकें ही हमने छापी हैं। मैं उन्हें अंतरराष्ट्रीय प्रसिद्धि दिलाकर फिर मुक्त बाजार में अपने पैरों पर चलने के लिए छोड़ देता हूं। मूलतः राइटर्स वर्कशाप का विचार वैकल्पिक प्रकाशन की तरह है जो बाजार केंद्रित बड़े प्रकाशकों के विरोध में खड़ा है।' □

अनुराग

युवा लेखक द्वारा एक संघर्षशील अक्षरकर्मी का जीवन-वृत्त

चायवाला उपन्यासकार : लक्ष्मण राव

नई दिल्ली के हिंदी भवन में जहां साहित्य के दिग्गज कभी खत्म न होने वाली साहित्य की बहसों में उलझे रहते हैं, वहीं ठीक भवन के सामने पटरी पर एक चायवाला चुपचाप चाय बनाता रहता है। एक चाय बनाने के बाद उसे जैसे ही समय मिलता है, उसमें पढ़ने या लिखने लगता है। ग्राहक को चाय देकर वह फिर पढ़ने-लिखने लगता है। यह शख्स है- चायवाला उपन्यासकार यानि लक्ष्मण राव।

लक्ष्मण राव का जन्म 22 जुलाई, 1954 को महाराष्ट्र में, अमरावती जिले के छोटे से गांव तड़ेगांव-दशासर में हुआ। गांव की याद आती है तो वह अपने अतीत में खो जाता है। बचपन की घटना है। रामदास नाम का एक लड़का उसका जिगरी दोस्त था। वह छुट्टियों में अपने मामा के घर गया। कुछ दिन वहां रहने के बाद, वह लौट रहा था तो रास्ते में नदी पड़ी। रामदास की नहाने की इच्छा हुई। वह नहाने के लिए नदी में कूद गया लेकिन फिर लौटकर नहीं आया। बाद में गांव वालों ने उसके मृतक शरीर को बाहर निकाला।

इस घटना ने बालक लक्ष्मण राव को अंदर तक झकझोर दिया। वह दिन-रात रामदास के बारे में सोचता रहता। यही घटना लक्ष्मण राव के लेखन की प्रेरणा बनी। लक्ष्मण राव ने तय कर लिया कि उसे भविष्य में लेखक बनना है।

लेखक बनना तय तो कर लिया, लेकिन केवल इससे तो लेखक नहीं बना जा सकता था। लेखक बनने के लिए गहरे अध्ययन की जरूरत थी। इसके लिए वह पाठ्यक्रम की पुस्तकों के साथ-साथ विद्यालय के पुस्तकालय में साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन करने लगा। इस दौरान उसने कई लेखकों की रचनाएं पढ़ी। हालांकि उसकी मातृभाषा मराठी है लेकिन उसने अध्ययन एवं लेखन के लिए राष्ट्रभाषा हिंदी को चुना।

हिंदी पर अधिकार जमाने के लिए वह 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसी हिंदी साप्ताहिक पत्रिकाएं, हिंदी उपन्यास व निबंध पढ़ने लगा। इससे भाषा में सुधार हुआ। भाषा में तराश लाने के लिए वह इलाहाबाद से प्रकाशित 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ' नामक हिंदी-संस्कृत शब्द-कोश खरीदकर उसकी सहायता से अध्ययन करने लगा। उसे लगने लगा कि हिंदी पर उसका अच्छा अधिकार हो गया है, तो उसने 1973 में मुंबई हिंदी विद्यापीठ की हिंदी की परीक्षा दी।

दसवीं पास कर वह अमरावती आ गया। यहां उसने एक डॉक्टर के यहां घरेलू नौकर के रूप में करीब तीन साल तक काम किया। इसके बाद वह स्पिनिंग मिल्स में काम करने लगे। यह काम शारीरिक श्रम का था। 1975 में वह अपनी भावी कर्मस्थली दिल्ली आ गया।

वह दिल्ली आकर दो-तीन दिन बिरला मंदिर की धर्मशाला में रहा। सामने दो समस्याएं थीं- रहने और काम की। वह किसी बनने वाली इमारत पर काम की तलाश में निकला लेकिन उन दिनों दिल्ली में लगातार वर्षा हो रही थी। करीब रोज ही सुबह से शाम तक वर्षा होती रहती। इसलिए इमारत का काम नहीं मिला। मजबूरन चाय के ढाबों पर कप, प्लेट धोने का काम करने लगा।

लक्ष्मण राव ने लगभग दो साल चाय के ढाबों पर काम किया। उसके बाद 20 जून, 1977 को विष्णु दिगंबर मार्ग पर स्थित सुचेता भवन के सामने चबूतरा बनाकर बीड़ी-सिगरेट बेचना शुरू कर दिया। यहां भी चैन नहीं मिला। समय-समय पर उसके चबूतरे को दिल्ली पुलिस व दिल्ली नगर निगम ने उजाड़ा। उसका मकसद दुकानदार बनना नहीं, साहित्यकार बनना था। चबूतरा उजड़ जाने के बाद उसने हिंदी भवन के सामने चाय बेचनी शुरू कर दी।

लक्ष्मण राव साहित्यकार बनने की धुन में दिन में मेहनत करता और रात को पढ़ता-लिखता। दरियागंज की पटरी पर लगने वाले पुस्तक बाजार में रविवार को भटकता और सप्ताह भर पढ़ने के लिए किताबें खरीद लेता।

इन्हीं दिनों लक्ष्मण राव का पहला उपन्यास 'नई दुनिया की नई कहानी' पूरा हुआ। उपन्यास में उनके संघर्षशील जीवन का अनुभव था। इसके प्रकाशन को लेकर उन्हें बेहद कड़वे अनुभव हुए। एक प्रकाशक ने तो उन्हें अपमानित करते हुए कहा कि जिस रास्ते से आए हो, उसी से वापस चले जाओ। उनके अनुसार प्रकाशक की नजर में लेखक की कोई इज्जत नहीं है।

प्रकाशकों के इस अपमानपूर्ण व्यवहार को उन्होंने चुनौती के रूप में स्वीकार किया और पांच हजार खर्च कर स्वयं ही किताब प्रकाशित की। उस समय दिल्ली में जमीन 50 रुपये गज मिल जाती थी। यदि वह चाहते तो 5000 रुपये में मकान बना सकते थे। लेकिन उन्होंने मकान बनाने

की बजाए, किताब प्रकाशित कराना बेहतर समझा। लोगों को उनके निर्णय पर बेहद आश्चर्य हुआ।

10 फरवरी 1981 को उनके बारे में पहली बार टाइम्स ऑफ इंडिया में प्रकाशित हुआ। इसके बाद उनकी पहचान बननी शुरू हुई और दूर-दूर से लोग मिलने के लिए आने लगे।

उनके जीवन में एक महत्वपूर्ण क्षण वह आया, जब उन्हें तीन मूर्ति भवन में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी से मिलने का अवसर मिला। उन्होंने श्रीमती गांधी के जीवन पर एक पुस्तक लिखने की इच्छा प्रकट की। श्रीमती गांधी ने सुझाव दिया कि वह उनके कार्यकाल के संबंध में लिखें।

लक्ष्मण राव लिखने में दिन-रात जुट गए। उन्होंने मात्र तीन महीने में 'प्रधानमंत्री' नामक नाटक लिखकर अपने पैसों से छपवाया। 31 अक्टूबर 1984 को प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी की हत्या कर दी गयी। लक्ष्मण राव अपना नाटक उन्हें भेंट न कर सके। इसका उन्हें आज भी मलाल है।

इस नाटक के छपने के बाद लेखन के प्रति उनका रुझान बढ़ता गया। अहिंदी भाषी होने के कारण उनकी भाषा अटपटी थी। आलोचकों ने भाषा में सुधार लाने पर जोर दिया। उन्होंने दिन-रात मेहनत कर भाषा को सुधार लिया।

1982 में उनका महत्वाकांक्षी उपन्यास 'रामदास' प्रकाशित हुआ। इसे लोगों ने बेहद पसंद किया। इसकी 2200 प्रतियां प्रकाशित करायी गई थीं। इनमें से करीब 1800 प्रतियां अब तक बिक चुकी हैं।

प्रकाशक अक्सर शिकायत करते हैं कि हिंदी की पुस्तकें बिकती नहीं। लोगों की दिलचस्पी पढ़ने में नहीं है। हिंदी का भविष्य अंधकारमय है। लेकिन अकेला लक्ष्मण राव इस अंधकार को चीरने वाली मशाल की तरह दिपदिपा रहा है।

यह सफेद झूठ है कि हिंदी में पाठकों की कमी है। जो समाचार पत्र कुछ बरस पहले हजारों में बिकते थे, उनकी पाठक संख्या लाखों में और कुछ की तो करोड़ों में पहुंच गयी है। समाचार पत्रों और पत्रिकाओं के पाठक इतनी बड़ी संख्या में हैं तो पुस्तकों के पाठकों का अकाल क्यों पड़ा है ? सच यह है कि हिंदी के प्रकाशक धन कमाने के शार्टकट- सरकारी खरीद पर निर्भर करते हैं। उन्होंने पाठक की पूरी तरह उपेक्षा कर दी है। आप पाठक की उपेक्षा करेंगे तो जाहिर है, पाठक आपकी उपेक्षा करेगा।

सरकारी खरीद में पुस्तकें जिस-तिस का प्रभाव डलवा कर और अधिकारियों को रिश्वत देकर बेची जाती हैं। रिश्वत की दर तीस प्रतिशत से लेकर चालीस प्रतिशत तक पहुंच गयी है। रिश्वत में इतनी मोटी रकम तभी दी जा सकती है, जबकि किताबों की कीमतें अनाप-शनाप बढ़ाई जाएं। भ्रष्टाचार की इस आपाधापी में हिंदी पुस्तकों की कीमतें इस कदर बढ़ गयी हैं कि वे बेचारे पाठक की पहुंच से बाहर हो गयी हैं। वह किसी तरह जोर खाकर अपनी पसंद की पुस्तक खरीदना चाहे तो भी पुस्तक मिल ही नहीं पाती। प्रकाशक पाठक तक पहुंचने की कोशिश तो करता ही नहीं, उसे पुस्तक सुलभ भी नहीं कराता।

हिंदी प्रकाशकों (और लेखकों के लिए भी) यह शर्म की बात है कि पुस्तक जैसी पवित्र वस्तु को रिश्वत के सहारे बेचा जा रहा है और साहित्य के नाम पर लाखों के घोटाले किये जा रहे हैं।

लक्ष्मण राव कहते हैं- अगर पुस्तकों की कीमतें मुनासिब रखी जाएं और उन्हें पाठकों तक पहुंचाया जाए तो हिंदी में पाठकों की कमी नहीं है। मेरे पास न कोई वितरण तंत्र है, न प्रचार तंत्र, फिर भी मैं आधे दिन परिश्रम करके अपनी पुस्तकों की 2000 प्रतियां आराम से बेच लेता हूं। इसके विपरीत पूरे वितरण तंत्र वाले प्रकाशक 500 और कभी-कभी 300 प्रतियां छाप कर ही भरपूर मुनाफा कमा लेते हैं। इस प्रक्रिया में वे लेखक और पाठक के बीच सेतु की अपनी भूमिका को कतई भूल गये हैं।

अब तक लक्ष्मण राव की सोलह पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'पत्तियों की सरसराहट' नाम से उनकी एक पुस्तक प्रकाशन के लिए तैयार है। आजकल वह मानवाधिकार आयोग के लिए *पत्रकारिता के मानवीय आधार* पुस्तक लिख रहे हैं। उन्हें भारतीय अनुवाद परिषद द्वारा पुरस्कृत किया जा चुका है।

लक्ष्मण राव की दिनचर्या बेहद व्यस्त है। सुबह 9 बजे से दोपहर बारह बजे तक पाठकों में और स्कूल-कॉलेजों में किताबें बेचते हैं। दोपहर 12 बजे से रात 9 बजे तक खुद चाय बनाकर बेचते हैं। घर जाकर देर रात तक पढ़ते-लिखते हैं। रात को नींद खुल जाती है तो फिर पढ़ने या लिखने लगते हैं। उन्हें लगता है कि कोई जरूरी काम करना था, जो रह गया है। उनके जीवन का एक ही मकसद है- पढ़ना और लिखना। उनकी महत्वाकांक्षा है कि उनकी किताबों को स्कूलों में कोर्स में पढ़ाया जाए। उनके लिए लिखने का मकसद पैसा कमाना नहीं, बल्कि एक लेखक के रूप में ख्याति प्राप्त करना है। लक्ष्मण राव की इच्छा है कि अगले दस वर्षों में लगभग 20 किताबें लिखें। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि वह इस मकसद में कामयाब होंगे।

लक्ष्मण राव- लगन और श्रम की गरिमा का साकार रूप, जिसने विषमताओं से कभी हार नहीं मानी और सफलता जिसकी मुट्ठी में है। □

बिंदु • बिंदु • विचार

□ प्रखर

प्रेमचंद के बहाने

सीबीएसई के पाठ्यक्रम से प्रेमचंद को बेदखल हुए अभी ज्यादा समय नहीं हुआ कि खबर आयी कि राजस्थान शिक्षा बोर्ड भी अपने पाठ्यक्रम से प्रेमचंद को जात बाहर कर रहा है। बोर्ड ने अपने ताजा फैसले में प्रेमचंद की कहानी ईदगाह, महादेवी वर्मा के रेखाचित्र गिल्लू, सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता झांसी की रानी और छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत की रचनाएं पाठ्यक्रम से बाहर कर दी हैं और उनकी जगह ऐसे लेखकों की रचनाएं कोर्स में लगा दी हैं, जिनका लोगों ने नाम भी नहीं सुना। इसके पीछे बोर्ड के अधिकारियों का वही पुराना तर्क है कि ऐसा करके पाठ्यक्रम को आधुनिक बनाया गया है और उसे नवीनता दी गयी है। राजस्थान के प्रगतिशील लेखकों का आरोप है कि ऐसा करके पाठ्यक्रम के भगवाकरण की कोशिश की जा रही है।

राजस्थान में कांग्रेस सरकार है, इसलिए पाठ्यक्रम के इस बदलाव के पीछे कोई सोचा-समझा भगवाकरण का प्रयास चाहे न भी हो, लेकिन भ्रष्टाचार का प्रयास तो साफ है। कहते हैं कि पाठ्यक्रम में रचना लगाने के एवज में एक लेखक को सत्तर हजार रुपये मिलते हैं, इसके अलावा पुस्तक की बिक्री पर मोटी वार्षिक रायल्टी अलग। यानी जिन अनाम लेखकों की रचनाएं पाठ्यक्रम में लगी हैं, उन्हें काफी बड़ा आर्थिक लाभ होने जा रहा है, जिसके लिए कई अलेखक भी लेखक बन गए हैं।

अपनी प्रकृति में सीबीएसई और राजस्थान शिक्षा बोर्ड के फैसले एक जैसे ही हैं और हमारी शिक्षा व्यवस्था की एक बड़ी खामी की ओर इशारा करते हैं। पाठ्यक्रम निर्धारण में जिस तरह की अलोकतांत्रिक प्रक्रिया अपनाई जाती है, उसमें आज न कल यह होना ही था। सत्ता हमेशा ही उन लोगों को शरण देती रही है जो उसके उद्देश्यों में सहायक रहे हैं, इसलिए उससे तो किसी भी तरह की नैतिकता की उम्मीद करना बेमानी है। उसके लिए हर हाल में प्रेमचंद से ज्यादा मृदुला सिन्हा मुफीद बैठेंगी। ऐसे में क्या यह समीचीन नहीं होगा कि पाठ्यक्रम निर्धारण की प्रक्रिया को ही और ज्यादा खुला और समीचीन बनाया जाए। हिंदी का हाल तो यह है कि उसके तमाम अध्यापक आज भी सूर, तुलसी और क़बीर से आगे नहीं बढ़ पाए हैं। उन्हें नहीं मालूम कि नामवर सिंह कौन हैं या रेणु, श्रीलाल शुक्ल आदि ने क्या लिखा है!

इस संबंध में कथाकार बटरोही के बुडापेस्ट के अनुभवों का जिक्र यहां जरूरी लग रहा है। बटरोही ने लिखा है कि हंगरी में साहित्य के अध्ययन और अध्यापन की प्रक्रिया ही बिल्कुल अलग है। वहां एक ही उपन्यास या कहानी पूरे सत्र में हर छात्र के लिए पढ़ना जरूरी नहीं है। छात्र अध्यापक से सलाह कर अपने लिए किसी दूसरे उपन्यास का चयन भी कर सकता है। उसकी परीक्षा भी अलग से ली जाती है। ऐसे में एक ही सत्र में कई-कई पुस्तकों का अध्ययन हो जाता है और अपने विषय में छात्र की रुचि भी बनी रहती है।

इसके अलावा न उसमें भ्रष्टाचार की गुंजाइश रहती है और न ही थोपे गए पाठ्यक्रम का भाव। हां, उस विषय की बुनियादी शिक्षा की जरूरत छात्र प्राथमिक कक्षाओं में जरूर पूरी कर लेता है। इस तरह उसे ज्ञान का एक खुला आकाश मिलता है, जिसमें किसी तरह की तानाशाही की संभावना नहीं बचती। लेकिन इसमें छात्र के साथ-साथ अध्यापक को भी बराबर श्रम करना पड़ता है, जो हमारे यहां के अधिकांश अध्यापकों के लिए आकाश कुसुम तोड़ने जैसा है। आज हिंदी में अगर पाठक नहीं हैं तो क्या इसका एक बड़ा कारण हमारे विश्वविद्यालय, शिक्षा नीति और अध्यापक समाज नहीं है?

भारतीय विश्वविद्यालयों से हर साल हिंदी साहित्य पढ़कर हजारों विद्यार्थी निकलते होंगे। औरों की छोड़ें तो कालेज छोड़ने के बाद ये विद्यार्थी आखिर कहां चले जाते हैं? ये क्यों समकालीन साहित्य के पाठक नहीं बन पाते। क्या बाद में उनके किताब न उठाने के पीछे सिर्फ गरीबी और बेरोगजारी ही मुख्य कारण है या हमारी शैक्षिक नीति और कुपढ़ अध्यापक समाज भी?

पाठ्यक्रम से प्रेमचंद को बेदखल करने के पीछे संकीर्ण और फासीवादी सोच तो है ही, जिसकी भर्त्सना होनी ही चाहिए, लेकिन हमें यह भी देखना चाहिए कि क्या पाठ्यक्रम में रखने भर से प्रेमचंद को बचाया जा सकता है? यह सिर्फ प्रेमचंद का नहीं, उनके बहाने अपनी पूरी साहित्यिक परंपरा और मूल्यों को बचाने का सवाल है, जिसे सिर्फ और सिर्फ पाठक ही बचा सकता है। और अगर पाठक ही बचा होता तो क्या आपको लगता है कि पाठ्यक्रम से प्रेमचंद को बेदखल करने जैसी निर्लज्जता कोई कर सकता था?

शाबाश अरुंधति

पिछले दिनों बुकर पुरस्कार से सम्मानित अंग्रेजी की विख्यात लेखिका अरुंधति राय ने फ्रांस से सैकड़ों युद्धविरोधी जनसंगठनों का नेतृत्व करते हुए बर्बर अमेरिकी साम्राज्यवाद के खिलाफ एक नैतिक लड़ाई का आह्वान किया। यहां अरुंधति को याद करने का उद्देश्य एक बार फिर लेखकीय सरोकारों को याद करना है। अपने समय के हर महत्वपूर्ण विमर्श में उनकी सक्रिय भागीदारी है और अन्याय शोषण व दमन के हर मामले में विश्वमंच पर वे लगातार अपना मुखर विरोध दर्ज करती रही हैं। लेखक का महान और मानवीय चेहरा उनके पास है। चाहे वह गुजरात नरसंहार हो, विस्थापितों की त्रासदी या इराक पर नृशंस अमेरिकी हमला- वे विरोध में एक सचेत इतिहासबोध के साथ सामने आती हैं। यह कम महत्वपूर्ण नही है कि जब दुनिया के कुछ बुद्धिजीवी हिंसक अमेरिका की विरुदावलि गाने में लगे थे, तब अरुंधति फ्रांस में शांति के लिए लाखों युद्धविरोधियों का नेतृत्व कर रही थीं। यह कम खेदजनक नहीं है कि मीडिया में प्रतिरोध की इन खबरों को लगातार दबाया जाता रहा। ध्यान दें कि बीबीसी, सीएनएन के साथ-साथ दुनिया में 175 अखबारों और अनेक टीवी चैनलों के मालिक रूपर्ट मुर्डोक ने पूरी बेशर्मी के साथ उसके समर्थन में सच्ची-झूठी खबरों के माध्यम से अभियान भी चलाया। जबकि दुनिया भर में पहली बार लाखों लोग हमले के विरोध में सड़कों पर उतरे थे।

ऐसे में अरुंधति की बुलंद आवाज निश्चय ही आश्वस्त करती है। यह ठीक है कि विश्व किसी भी लेखक को अंततः उसकी रचना के कारण ही याद करता है, न कि उसकी आंदोलनकारी गतिविधियों के कारण। लेकिन जब संकट उन मूल्यों, स्मृतियों व सपनों पर ही आ जाए जिनके कारण कोई रचना महान होती है, तब? वैसे भी महान रचनाएं आतंक और बर्बरता के खिलाफ जीवन के पक्ष में एक चीख ही तो है। अरुंधति उसी चीख को शब्द और एक ऐतिहासिक परिपेक्ष्य देती है और लेखक को उसका मानवीय चेहरा भी। यहां अरुंधति प्रतिरोध की उस नैतिक परंपरा का प्रतीक है जिसने इतिहास के अंत की हवाई बातों को एक बार फिर फिजूल करार दिया है।

साझा लेखक-संगठन बनाने की दिशा में

भारतीय लेखक-3 में एक सवाल उठाया गया था- '...साझा लेखक-संगठन बनायें!' और साथ ही कुछ जरूरी सुझाव भी प्रस्तुत किये गये थे। खुशी की बात है कि इस मुद्दे पर लेखक मित्रों की आशा से अधिक प्रतिक्रियाएं मिली हैं। स्थानाभाव के कारण सब प्रतिक्रियाओं को प्रकाशित कर पाना संभव नहीं है, फिर भी कुछ चुनी हुई प्रतिक्रियाएं प्रकाशित की जा रही हैं। इनसे प्रकट है कि अधिकांश लेखकों का मत साझा लेखक-संगठन बनाने के पक्ष में है। कुछ मित्रों ने तो जोर देकर लिखा है कि यह समय की मांग है। इसे पूरा करने के लिए हर संभव प्रयत्न किया जाना चाहिए।

कुछ लेखकों ने जैसा कि आंशकित था, सुझावों की व्यावहारिकता के प्रति शंकाए भी प्रकट की हैं। किसी भी संगठन के बारे में ऐसा महत्वपूर्ण संगठनात्मक निर्णय किसी एक व्यक्ति अथवा पदाधिकारी का काम नहीं होता। निर्णय संगठन की अधिकारी समिति द्वारा सामूहिक रूप से ही लिया जाता है, खास तौर से तब जबकि संगठन स्वतंत्र-संगठन न होकर राजनैतिक दल के घटकों के रूप में काम कर रहे हों। संयोग से तीनों ही लेखक संगठन तीन वामपंथी राजनैतिक पार्टियों के घटकों के रूप में काम कर रहे हैं। इसके बावजूद स्थिति निराशाजनक नहीं है, बल्कि कहना चाहिए- आशाजनक है।

पिछले अंक में लेखक संगठनों की एकता तथा विभिन्न संगठनों के लेखकों को एक दूसरे के निकट आने की आवश्यकता को रेखांकित करती तीन घटनाओं का उल्लेख किया गया था। ये घटनाएं थीं- हैदराबाद में हुए *प्रगतिशील लेखक संघ* का तेरहवां अधिवेशन, वाराणसी के हिंदुत्ववादी लेखक शुकदेवसिंह के विरोध में तीनों संगठनों का सामूहिक परिपत्र और प्रेमचंद के उपन्यास 'निर्मला' को सी.बी.एस.ई. के कोर्स से हटाकर मृदुला सिन्हा के उपन्यास 'ज्यों मेंहदी को रंग' को लगवाने में तीनों लेखक-संगठनों के सदस्यों तथा अन्य प्रगतिशील लेखकों का सामूहिक प्रदर्शन। तीनों संगठनों की एकता की दिशा में इस बीच और भी महत्वपूर्ण घटनाएं घटीं। पहले दिल्ली में तीनों संगठनों ने मिलकर प्रेमचंद जयंती मनायी, जिसमें प्रगतिशील लेखकों की एकता पर बल दिया गया। कुछ ही समय बाद पटना में *जनवादी लेखक संघ* का छठा अधिवेशन संपन्न हुआ। इस अधिवेशन में *जनवादी लेखक संघ* के सदस्यों के अलावा दूसरे वाम लेखकों ने भी शिरकत की। यहां भी प्रगतिशील लेखकों की एकता का सवाल उठा और इस दिशा में सक्रिय होने की आवश्यकता पर जोर दिया गया।

कई लेखकों की ओर से एक व्यावहारिक सुझाव आया है कि जब तक तीनों लेखक संगठनों का विलय कर साझा लेखक संगठन बनाना संभव न हो, तब तक एक कनफेडरेशन अथवा समन्वय- समिति गठित की जाए, जो सहमति के मुद्दों पर संगठित रूप से काम करे और अंततः साझा लेखक-संगठन बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाये। आशा करनी चाहिए कि इसके सकारात्मक परिणाम सामने आएंगे।

आपसे अनुरोध है कि ह्रासोन्मुख रुढ़िवादी मूल्यों तथा समाज की प्रतिगामी शक्तियों का प्रतिरोध करने और सकारात्मक वैज्ञानिक मूल्यों की रक्षा के लिए प्रगतिशील लेखकों को एकजुट करके साझा संगठन बनाने के इस अभियान में आगे बढ़कर अपना वैचारिक तथा सक्रिय सहयोग दें। □

नये लेखकों के लिए

विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय

बांग्ला के अप्रतिम कथाशिल्पी के लेखक बनने नहीं, बन जाने की पूर्वकथा का समीक्षक तथा बांग्लाविद रामशंकर द्विवेदी द्वारा रुपांतर

मैं लेखक कैसे बना?

मैं कैसे लेखक बन गया, यह मेरे जीवन की, स्वयं मेरे लिए, एक अद्‌भुत घटना है। हां, यह बात जरूर ठीक है कि अपने जीवन की असंत तुच्छ अनुभूति भी अपने लिए अपूर्व होती है। अगर ऐसा न होता तो संसार में लेखक जाति की ही उत्पत्ति न होती। मनुष्य की जन्म-मृत्यु, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, ऋतु-परिवर्तन, वन पुष्पों का आविर्भाव और तिरोभाव, पृथ्वी पर कितनी छोटी-बड़ी घटनाएं घटती चली जा रही हैं। इन सबको कौन देखता है और देखकर कौन मुग्ध होता है?

एक श्रेणी के ऐसे मनुष्य होते हैं, जिनकी आंखों में कल्पना सदा मोह का अंजन लगाये रखती है। अत्यंत साधारण पक्षी का अति सामान्य सुर भी उसके मन में आनंद की लहरें उठा देता है, अस्तदिगंत का रक्तरंजित मेघस्तूप स्वप्न जगा देता है, फिर वही लोग अत्यंत सामान्य दुख से ही टूट जाते हैं। यही लोग बनते हैं लेखक, कवि, साहित्यकार। यही लोग जीवन के संवाददाता और इतिहासकार होते हैं। एक युग की दुःख-वेदना, आशा-आनंद को अन्य युग तक पहुंचाते जाते हैं।

मेरे जीवन की वह अभिज्ञता इसीलिए मेरे लिए चिर दिन अभिनव, अमूल्य और दुर्लभ रहती है। जो घटना मेरे जीवन-प्रवाह को पूरी तरह अन्य दिशा में मोड़ देती है, मेरे जीवन में उसका बहुत मूल्य है।

१९२२ ईसवी। विश्वविद्यालय की उपाधि लेकर डायमंड हार्बर लाइन पर एक पल्लीग्राम के हाईस्कूल में मास्टरी की नौकरी करने आषाढ़ मास में पहुंचा।

वर्षा काल, नयी जगह पर पहुंच गया। अपरिचित वर्ग में अपने को अत्यंत असहाय महसूस कर रहा था। बैठक खाने के कमरे के सामने एक छोटे ढके बरामदे में अकेला बैठे-बैठे सामने की सदर सड़क की तरफ देख रहा था, कि इसी समय सोलह-सत्रह वर्ष की उम्र के एक लड़के को पुस्तक हाथ में लिये हुए जाते देखा तो उसे पास बुलाया। मेरा उद्देश्य था कि मैं उसके हाथ की पुस्तक देखूंगा और संभव हुआ तो एक दिन के लिए पढ़ने को मांग लूंगा।

पुस्तक तो देख ली थी, एक उपन्यास था। मांगने पर उसने कहा "यह लाइब्रेरी की पुस्तक है। आज लौटाने का दिन है। आपको दे न सकूंगा, फिर लाइब्रेरी से बदल कर इसी समय ला दूंगा।"

"यहां लाइब्रेरी है?"

"बहुत अच्छी लाइब्रेरी है, बहुत पुस्तकें हैं। सिर्फ दो आना चंदा है।"

"अच्छा चंदा दे दूंगा, मेरे लिए पुस्तकें ला देना।"

छोरा चला गया और लौटते समय मुझे एक पुस्तक भी दे गया। मैंने उससे कहा, "अरे, तुम्हारा नाम क्या है?"

उसने कहा, "मेरा नाम पांचु गोपाल चक्रवर्ती है, किंतु इस गांव में सभी लोग मुझे एक बालकवि के रूप में जानते हैं।"

मैंने थोड़ा अवाक होते हुए कहा, "बालकवि के रूप में क्यों? क्या कविता-अविता लिखते हो?"

लड़का उत्साहित होकर बोला, "लिखता ही तो हूं। बिना लिखे ही क्या इन्होंने मुझे बाल कवि नाम दिया है? अच्छा, कल लाकर दिखाऊंगा।"

दूसरे दिन वह सुबह के समय ही आकर हाजिर हो गया। साथ में एक छपी हुई ग्राम्य मासिक पत्रिका लिये हुए था।

मुझे दिखाते हुए बोला, "यह देखिए, यह पत्रिका हमारे गांव से निकलती है। इसका नाम विश्व है। यह देखिए शुरू में ही मेरी 'मानुष' शीर्षक कविता है। यह देखिए छापे के अक्षरों में कविता के ऊपर ही मेरा नाम लिखा हुआ है।" यह कहते हुए उस छोकरे ने गर्वपूर्वक उस पत्रिका को मेरी नाक के नीचे रखते हुए अंगुली से अपना नाम मुझे दिखा दिया। हां, सचमुच लिखा हुआ तो है- कवि पांचू गोपाल चक्रवर्ती। तो फिर देख रहा हूं कि उसने नितांत झूठ तो नहीं कहा है।

कविता उसने ही मुझे पढ़कर सुनायी। संसार में मनुष्य का स्थान बहुत ऊंचा है, इसी तरह की अन्य बातें उस कविता के कई बंधों में कही गयी थीं।

हां, पत्रिका देखकर उस पर मुझे अधिक श्रद्धा तो नहीं हुई। स्टेशन के पास यहां एक छोटा-सा प्रेस है। उसी प्रेस में छपी अत्यन्त पतले, झिल-झिले कागज पर। पत्रिका को 'मासिक' अथवा 'पाक्षिक' न कहकर उसे पहला और अंतिम अंक वाली पत्रिका कहा जा सकता है। अर्थात जिस श्रेणी की पत्रिका गांव के उत्साही, लेखन के प्रति पागलपन से ग्रस्त लड़कों का दल चंदा एकत्र कर मात्र एक बार निकालता है, किंतु दूसरी बार उत्साह मंद पड़ जाने से आशानुरूप चंदा न एकत्र कर पाने के कारण बंद करने को लाचार हो जाते हैं। यह पत्रिका उसी श्रेणी की थी।

फिर भी मुझे उसके प्रति ईर्ष्या हुए बिना न रही। मैं लिखता नहीं हूं अथवा लिखने की बात मैंने कभी सोची भी नहीं है। यद्यपि इतना छोटा लड़का, इसका नाम ऐसे सुंदर अक्षरों में छप गया। इसके ऊपर मेरे मन में यथेष्ट श्रद्धा उत्पन्न

हो गयी, मन-ही-मन सोचा, लड़का अच्छा तो है। अक्षर मिलाकर कैसी कविता लिख लेता है। साहित्य की समझ उसमें थी, यह मैं जानता हूं। उस समय के जमाने में एक लेखक की पुस्तकें अगर न हों तो ग्रामीण अंचल की लाइब्रेरी चलती नहीं थी। उस लेखक की एक-एक पुस्तक की तीन-चार प्रतियां तक किसी-किसी बड़ी लाइब्रेरी में रखी जाती थीं।

वह लड़का कहता था, ''वे सब तो बाहरी हैं। देखिएगा वे सब टिकेंगे नहीं।''

किसी-किसी दिन पांचू गोपाल मुझे गांव के बाहर वाले मैदान में घूमने ले जाता था। प्राकृतिक सौंदर्य पकड़ने की अच्छी दृष्टि भी उसके पास थी। बीच-बीच में जबानी कविता लिखकर वह मुझे सुनाया करता था। कई कविताएं हो जाने पर वह कविता की एक पुस्तक छपाएगा, ऐसी इच्छा भी प्रकट करता था। उसी समय कलकत्ता के किसी 'पब्लिशिंग हाउस' ने छह आना वाली ग्रंथावली भी प्रकाशित करनी शुरू कर दी। उस ग्रंथावली के लिए पहली पुस्तक लिखी रवीन्द्रनाथ ने। रवीन्द्रनाथ की पुस्तक स्थानीय लाइब्रेरी से मेरे लिए लाकर पांचू गोपाल ने कहा, ''इस पुस्तक को लेने के लिए भीड़ नहीं है। नयी आयी है, एक ही आध व्यक्ति ने ली थी, कल ही वापस दे गया है, किन्तु जाकर देखिये कि अमुक व्यक्ति की पुस्तक के लिए क्या मारा-मारी है। डिटेक्टिव उपन्यास अगर न रखे जाएं तो लाइब्रेरी बंद ही हो जाएगी। कोई भी चंदा न देगा।'' दूसरे महीने में और एक पुस्तक निकल गयी। उसे मेरे पास लाकर वह बोला, ''मैं एक बात सोच रहा हूं- आइए हम और आप मिलकर इसी तरह की उपन्यास सीरीज निकालें। खूब बिक्री होगी और एक नाम भी रह जाएगा। अगर आप भरोसा दिलाएं, तो मैं उस में लग जाऊं। मैंने विस्मय के स्वर में कहा, ''तुम और मैं दोनों लोग मिलकर पुस्तक का कारोबार करेंगे, यह कभी संभव है? फिर इस व्यवसाय के संबंध में हम जानते ही कितना हैं? उसे छोड़िये, पुस्तक लिखेगा कौन? इसमें लेखक को पारिश्रमिक देना होगा, वह पैसा भी कौन देगा?''

वह हंसकर बोला, ''वाह! वैसा क्यों, पुस्तक आप लिखेंगे, मैं भी दो-एक लिखूंगा।'' यह मेरे लिए पूरी तरह दुराशा मात्र थी। हां, पढ़ते समय अन्य अनेक छात्रों की तरह कॉलेज मैगजीन में दो-एक निबंध, एक-आध कविता न लिखी हो, ऐसी बात नहीं है, अथवा पड़ोसी के अनुरोध से, विवाह के अवसर पर प्रीति-उपहार स्वरूप दो-चार कविताएं न लिखी हों, वैसा भी नहीं, वैसी कौन नहीं लिखता रहता है?

मैंने उससे कहा, ''लिखना क्या बच्चों का खेल है, जो कलम लेकर बैठते ही हो गया? वह सब खामख्यालीपना छोड़िए। मैंने तो कभी लिखा भी नहीं है, लिख भी नहीं सकूंगा। तुम शायद लिख सकोगे, मेरे द्वारा वह सब कुछ न होगा।''

वह बोला, ''अच्छी तरह हो सकेगा। आपने जब बी.ए. पास किया है, तब आपके लिए उतना सब कठिन नहीं होगा। थोड़ा प्रयास कीजिए, उसी से हो जाएगा।'' तब उम्र अल्प थी, बुद्धि भी परिपक्व नहीं हुई थी, फिर भी मुझे लगा कि बी.ए. पास तो बहुत लोग कर लेते हैं, वे सभी लेखक क्यों नहीं बन जाते हैं? तो भी बी.ए. पास लोगों के ऊपर पांचू गोपाल की यह अहैतुक कृपा भंग भी नहीं करना चाहता था। इसे लेकर उससे और तर्क मैंने फिर नहीं किया।

किंतु कर लेता तो ठीक रहता। कारण, इसका फल एकदम विपरीत हुआ। दसेक दिन बाद, एक दिन स्कूल जाकर देखता हूं वहां नोटिस बोर्ड पर, दीवार पर, नारियल के वृक्ष पर, सभी जगह एक छपा हुआ कागज टंगा हुआ है, उसमें लिखा हुआ है- छप गया! छप गया!! छप गया!!! एक रुपया मूल्य की पुस्तक शृंखला का पहला उपन्यास!

लेखक के नाम के स्थान पर अपना नाम देखा। मेरे तो नेत्र स्थिर रह गये। यह निश्चय ही उस पांचू गोपाल की ही करतूत है। ऐसा बचपना वह कर बैठेगा, ऐसा जानता होता, तो क्या उसके साथ घुलता-मिलता! विपत्ति पर विपत्ति यह हुई कि स्कूल में घुसते ही सारे शिक्षकों और छात्रों ने प्रश्न किया, ''आप लेखक हैं, यह तो आज तक जानता ही नहीं था? बहुत अच्छा! तो वह पुस्तक छप गयी है या नहीं? हम लोगों को एक दिखाइएगा जरूर।''

हेडमास्टर ने बुलाकर कहा, ''उनकी लाइब्रेरी को उस पुस्तक की एक प्रति देनी पड़ेगी।'' दिन भर मुझे लोगों के कौतुहल भरे प्रश्नों को टालते रहना पड़ा, मैं कब से लिख रहा हूं, और भी कौन-कौन सी पुस्तकें हैं, इत्यादि। स्कूल की छुट्टी हो जाने के बाद बाहर आकर चैन की सांस ली। ऐसी विपत्ति में भी व्यक्ति पड़ सकता है!

डेरे पर लौट उस लड़के को ढूंढ़ निकाला। उसकी बहुत लानत-मलामत की। यह तुम्हारी कैसी करतूत है! सारी बातों की बात यह हुई थी कि इस तरह से एक बार नाम छापकर प्रचारित करने से लोग क्या सोचेंगे।

उसने अवाक होकर दांत निकालते हुए हंसते-हंसते कहा, ''उससे क्या हो गया? आप तो लिखने के लिए वैसे ही राजी हो चुके हैं। लिखते क्यों नहीं हैं?''

मैं बोला, ''बहुत अच्छे लड़के हो तुम! कहां क्या है, इसका तुम्हारा कोई ठिकाना नहीं। तुमने मेरा नाम किस कारण छाप दिया, और फिर एक बार ही स्कूल की दीवार, नोटिस बोर्ड आदि सभी स्थानों पर उसे लगा दिया, यह कैसा कांड है? तुम्हें मेरा नाम ही कहां से मिला? किसने तुमसे कहा था कि मैं उस नाम से कुछ लिखता हूं अथवा आगे लिखूंगा?''

''अच्छा जाने दो।'' कह कर पांचू गोपाल तो हंसते-हंसते चला गया। इधर स्कूल में जाकर मुझे प्रतिदिन सबके प्रश्नों से परेशान होना पड़ता- पुस्तक कब निकल रही है? पुस्तक निकलने में और कितनी देरी है? बड़ी मुश्किल में पड़ गया। वह जो बचपना कर बैठा, उससे बचने का कोई त्राण नहीं। अब मैं अपने सम्मान की रक्षा कैसे करूं? लोगों द्वारा हो रहे मानसिक अत्याचार की चोट से तो मुझे अस्थिर होना पड़ रहा है।

सोच-सोचकर एक दिन स्थिर किया कि एक काम किया जाए। वह एक रुपया सीरीज की पुस्तकें तो कभी नहीं निकाल पाएगा। उसके पास रुपया ही कहां है जो पुस्तकें छपवाएगा? अच्छा यह है कि मैं एक कॉपी में कुछ न कुछ लिख कर रख लूं- लोग अगर देखना चाहें तो उस कॉपी को दिखाते हुए कह दिया जाएगा कि मेरा तो लिखा हुआ यह है, अगर यह छप नहीं सका तो मैं क्या करूं!

पर लिखूं क्या? जीवन में कभी कहानी नहीं लिखी, कैसे लिखा जाता है यह भी मेरा जाना हुआ नहीं है। कैसे प्लॉट की

जुगाड़ कर, किस कौशल से उसके आधार पर कहानी बुनी जाती है, यह मुझे कौन बताएगा? फिर, प्लॉट ही मुझे कहां मिलेगा? प्रतिदिन आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाता, कुछ भी ठीक नहीं कर पाता। कहानी लिखने का प्रयास किसी भी दिन नहीं किया। पढ़ते समय सुरेन वांडुज्जे और विपिन पाल के भाषण सुनकर बड़ी साध होती कि लेखक हो सकूं या न हो सकूं किंतु एक बड़ा वक्ता तो होना ही होगा।

लेखक होने की इच्छा तो कभी थी ही नहीं, वैसा प्रयास भी कभी नहीं किया। पहली बार मुश्किल में पड़ गया। बहुत सोच-सोचकर किसी भी तरह प्लॉट नहीं जुटा पाया। मन उस समय तक विश्लेषणात्मक अभिव्यक्ति का रास्ता नहीं खोज पाया था। सब कुछ पर संदेह और सब कुछ से भय।

अंत में एक दिन एक घटना से मन में एक कहानी के उपादानों का अंकुरण हो गया। उस पल्ली ग्राम के एक छायादार निभृत पथ से शरत के पूर्ण आलोक और अजस्र विहग काकली के मध्य से होकर प्रतिदिन स्कूल जाया करता था और एक ग्राम्य वधू को मार्ग के बगल में स्थित एक छोटे जलाशय से जल भरकर कांख में कलसी दबाए, स्नान करके वापस जाते हुए देखा करता था। अकसर उससे मेरी भेंट हो जाया करती थी, पर वह सब कुछ उस भेंट तक ही सीमित था। उसका परिचय मेरे लिए अज्ञात था एवं लगता है अज्ञात होने के कारण ही उसने एक रहस्यमयी मूर्ति के कारण मेरे मन में एक सामयिक रेखा अंकित कर ली थी। मन ही मन सोचा कि प्रतिदिन दिखने वाली किंतु पूरी तरह अनजान इस वधू को लेकर यदि एक कहानी प्रारम्भ की जाए तो कैसा रहे! अच्छा देखता हूं क्या होता है? कहानी खत्म करने के बाद उस गांव के दो-एक लोगों को पढ़कर सुनायी। पांचू को भी सुनायी। किसी ने कहा अच्छी है, किसी ने कहा बुरी नहीं है। अपने एक मित्र को कलकत्ते से आमंत्रित कर बुलाया और उसे भी वह कहानी सुना दी। उसने भी कहा कि कहानी अच्छी बन पड़ी है। तब मैं एक कच्चा लेखक था, अपनी क्षमता पर विश्वास जरा भी उत्पन्न नहीं हुआ था। जो आत्मविश्वास लेखक की एक बहुत बड़ी पूंजी होती है, मैं तब उससे दूर था! दूसरे के मतामत पर निर्भर रहने के अलावा मेरे पास और क्या चारा था। अपने कलकत्ते के मित्र की समझदारी पर मेरी श्रद्धा थी- उसका मत सुनकर मुझे खुशी हुई।

एक पुरागांव में स्कूल मास्टरी करता हूं। कलकत्ता के किसी साहित्यकार अथवा पत्रिका-सम्पादक को नहीं पहचानता हूं। रचना छपाने के सम्बन्ध में मुझे एक प्रकार से हताश होना पड़ा। इसी तरह पूजा की छुट्टियां आ गईं, छुट्टियों में देश जाकर कुछ दिन बिता आया। फिर वापस आकर कागज-पत्रों में से अपनी उसी रचना को निकालकर सोचा- आज इसे एक बार कलकत्ता ले जाकर प्रयास करके देखना चाहिए।

घूमते-घूमते एक पत्रिका के आफिस के सामने पहुंच गया। मेरे जैसे अज्ञात, अख्यात, नये लेखक की रचना वे लोग छापेंगे ऐसी दुराशा मेरी नहीं थी, फिर भी साहस करके उसमें चला गया। देखा जाय ना कि क्या होता है, कोई खा तो लेगा नहीं। बहुत होगा तो रचना नहीं छापेंगे। कमरे में घुसते ही एक छोटी मेज के सामने जिसे कर्मरत देखा, उसे नमस्कार कर डरते-डरते बोला, "एक रचना लाया हूं।" भद्र पुरुष ने कोमल स्वर में प्रश्न किया, "और कहीं आपकी रचना क्या कभी छपी है? अच्छा रख जाइए, अगर स्वीकृत न हुई तो वापस कर दी जाएगी। पता देते जाइए।"

रचना देकर वापस आकर स्कूल के सहकर्मियों और गांव के परिचित मित्रों से कहता हूं, "रचना लेकर उन्होंने कहा है कि शीघ्र छापेंगे," चुपचाप डाकघर में कह आया कि मेरे नाम से अगर बुकपोस्ट का कोई लिफाफा आता है तो उसे स्कूल ले जाकर न बांटा जाय। कारण, रचना वापस आ गई है, इसकी जानकारी सहकर्मियों और छात्रों में फैल जाएगी। दिन गिनने लगता हूं, एक दिन सचमुच में डाकिये ने आकर स्कूल में कहा। "आपके नाम से एक बुक पोस्ट आया हुआ है, जाकर ले आइयेगा।" मेरा चेहरा पीला पड़ गया। नवजात रचना के प्रति असीम दर्द का जिन्होंने अनुभव किया है, वही मेरे दुःख को समझ सकेंगे। एक दिन का आकाश कुसुम चुनना तब व्यर्थ हो गया, रचना वापस भेज दी गयी है।

किंतु, दूसरे दिन डाकघर जाकर बुकपोस्ट ले खोलकर देखता हूं कि मेरी रचना ही है, किंतु उसके साथ पत्रिका के सहायक संपादक की चिट्ठी भी है। उसमें लिखा हुआ है- रचना उन्होंने स्वीकृत कर ली है, फिर भी मामूली कुछ फेरबदल के लिए उन्होंने वापस भेज दी है, वह करके मैं उसे वापस भेज दूं, जिससे अगले महीने में वह छापी जा सके।

अपूर्व आनन्द और दिग्विजयी का गर्व लेकर डाकघर से मैं वापस आता हूं। गर्वपूर्वक ले जाकर पत्र दिखाते ही सभी बोले, "लगता है, आपकी जान-पहचान है वहां? आजकल बिना परिचय के कुछ भी होना संभव नहीं है। सब खुशामद, परिचय का खेल ही तो है।" मैं उन्हें किसी भी तरह नहीं समझा सका कि जिसके हाथ में रचना दे आया था, उसका नाम तक मैं नहीं जानता। उसके बाद उस गांव का ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं बचा, जिसने एक बार मेरे उस पत्र को न देखा हो। किसी से भी भेंट होने पर रास्ते में ही उसे रोक लेता और बिना किसी कारण के मेरी जेब से वह चिट्ठी निकल आती, एवं बड़े निरीह मुख से उससे कहने लगता- उन लोगों ने एक पत्र लिखा है, एक रचना चाहते हैं- मेरे पास समय ही उतना कहां है। -हाय, वे सब लेखक- जीवन के प्रारम्भ के दिन थे। वह आनन्द, वह उत्साह, छापे के अक्षरों में अपना नाम देखने का विस्मय आज भी स्मृति में है, उसे भूला नहीं हूं। अपने को प्रकाशित करने में जो गौरव एवं आत्म प्रसाद निहित है, लेखक जीवन का सबसे बड़ा पुरस्कार वही है। स्वच्छ, सरल भावानुभूति का जो वाणीरूप कवि और कथाशिल्पी अपनी रचनाओं में ले आते हैं वह तभी सार्थक होता है, जब पाठक लोग उसी भाव का अनुभव अपने में करते हैं। इसी कारण लेखक और पाठक की सह-अनुभूति के अलावा कभी कोई भी रचना सार्थकता लाभ नहीं कर पाती।

उस किशोर कवि के प्रति मैं कृतज्ञ हूं। उसी ने इस तरह जबरदस्ती साहित्य के क्षेत्र में उतारा था।

पांचू गोपाल के साथ मेरी बीच-बीच में भेंट हुई थी। उस समय वह चौबीस परगना के पास किसी गांव की एक उच्च प्राथमिक पाठशाला का हेडमास्टर था। अब भी वह कविता लिखता है। □

रसूल हमजातोव

विश्वविख्यात दागिस्तानी कवि और लोक-रस से सिक्त अद्‌भुत गद्य के प्रणेता का सृजन की जननी प्रतिभा से साक्षात्कार

प्रतिभा अपना रास्ता खुद खोज लेती है

कवि और सुनहरी मछली का किस्सा

कहते हैं कि किसी अभागे कवि ने कास्पियन सागर में एक सुनहरी मछली पकड़ ली।

"कवि, कवि, मुझे सागर में छोड़ दो," सुनहरी मछली ने मिन्नत की।

"तो इसके बदले में तुम मुझे क्या दोगी?"

"तुम्हारे दिल की सभी मुरादें पूरी हो जायेंगी।"

कवि ने खुश होकर सुनहरी मछली को छोड़ दिया। अब कवि की किस्मत का सितारा बुलंद होने लगा। एक के बाद एक उसके कविता-संग्रह निकलने लगे। शहर में उसका घर बन गया और शहर के बाहर बढ़िया बंगला भी। पदक और 'श्रम-वीरता के लिए' तमगा भी उसकी छाती पर चमकने लगे। कवि ने ख्याति प्राप्त कर ली और सभी की जबान पर उसका नाम सुनाई देने लगा। ऊंचे से ऊंचे ओहदे उसे मिले और सारी दुनिया उसके सामने भुने हुए, प्याज और नींबू से मजेदार बने हुए सीक-कबाब के समान थी। हाथ बढ़ाओ, लो और मजे से खाओ।

जब वह अकादमीशियन तथा संसद-सदस्य बन गया और पुरस्कृत हो चुका, तो एक दिन उसकी पत्नी ने ऐसे ही कहा-

"आह, इन सब चीजों के साथ-साथ तुमने सुनहरी मछली से कुछ प्रतिभा भी क्यों नहीं मांग ली?"

कवि चौंका, मानो वह समझ गया कि इन सालों के दौरान किस चीज की उसके पास कमी रही थी। वह सागर-तट पर भागा गया और मछली से बोला-

"मछली, मछली, मुझे थोड़ी-सी प्रतिभा भी दे दो।"

सुनहरी मछली ने जवाब दिया-

"तुमने जो भी चाहा, मैंने वह सभी कुछ तुम्हें दिया। भविष्य में भी तुम जो कुछ चाहोगे, मैं तुम्हें दूंगी। मगर प्रतिभा नहीं दे सकती। वह, कवि-प्रतिभा तो खुद मेरे पास भी नहीं है।"

तो प्रतिभा या तो है, या नहीं है। उसे न तो कोई दे सकता है, न ले सकता है। प्रतिभाशाली तो पैदा ही होना चाहिए।

हमारे कवि ने, जिसे सुनहरी मछली ने सभी तरह से खुशहाल कर दिया था, जल्दी ही अपने को हंसों के पंख लगा लेने वाले कौवे की तरह महसूस करना शुरू किया। पराये पंखों का सौंदर्य शीघ्र ही खत्म हो गया और उसके अपने पंख भी बहुत कम रह गये थे। इस तरह कवि पहले की तुलना में भद्दा दिखने लगा।

दोहराने से प्रार्थना कुछ खराब नहीं हो जाती। इसलिए मैं भी दोहराता हूं। लिखने के लिए प्रतिभा का होना जरूरी है और अगर वह सुनहरी मछली के भी पास नहीं, तो उसे कहां से हासिल किया जाये?

पिताजी ने यह बात सुनायी

दूर के किसी गांव से एक पहाड़ी आदमी पिता जी के पास आया और अपनी कवितायें सुनाने लगा। पिता जी ने इस नये कवि की रचनायें बहुत ध्यान से सुनीं और फिर अपेक्षाकृत अधिक कमजोर और बेजान अंशों की ओर संकेत किया। इसके बाद उन्होंने पहाड़ी को यह बताया कि वह खुद, त्सादा का हमजात इन्हीं कविताओं को कैसे लिखता।

"प्यारे हमजात," पहाड़ी आदमी कह उठा, "ऐसी कवितायें लिखने के लिए तो प्रतिभा चाहिए!"

"शायद तुम ठीक ही कहते हो, थोड़ी-सी प्रतिभा से तुम्हें कोई हानि नहीं होगी।"

"तो यह बताइये कि वह कहां मिल सकती है," हमजात के जवाब में निहित व्यंग्य को न समझते हुए पहाड़ी ने खुश होकर पूछा।

"दुकानों पर तो मैं आज गया था, वहां वह नहीं थी, शायद मंडी में हो।"

कोई भी यह नहीं जानता कि आदमी में प्रतिभा कहां से आती है। यह भी किसी को मालूम नहीं कि इसे धरती देती है या आकाश। या शायद वह धरती और आकाश दोनों की संतान है? इसी तरह यह भी कोई नहीं जानता कि इनसान में किस जगह पर वह रहती है - दिल में, खून में या दिमाग में? जन्म के साथ ही वह छोटे-से इनसानी दिल में अपना घर बना लेती है या धरती पर अपना कठिन मार्ग तय करते हुए आदमी बाद में उसे हासिल करता है? किस चीज से उसे अधिक बल मिलता है -

प्यार से या घृणा से, खुशी से या गम से, हंसी से या आंसुओं से? या प्रतिभा के लिए इन सभी की

जरूरत होती है ? वह विरासत में मिलती है या मानव जो कुछ देखता, सुनता, पढ़ता, अनुभव करता और जानता है, उस सभी के परिणामस्वरूप वह उसमें संचित होती है ?

प्रतिभा श्रम का फल है या प्रकृति की देन। यह आंखों के उस रंग के समान है, जो आदमी को जन्म के साथ ही मिलता है, या उन मांसपेशियों के समान है, जिनका दैनिक व्यायाम के फलस्वरूप वह विकास करता है ? यह माली द्वारा बड़ी मेहनत से उगाये गये सेब के पेड़ के समान है या उस सेब के समान, जो पेड़ से सीधा लड़के की हथेली पर आ गिरता है ?

प्रतिभा- यह तो इतनी रहस्यमयी है कि जब पृथ्वी, उसके अतीत और भविष्य, सूर्य और सितारों, आग और फूलों, यहां तक कि इनसान के बारे में भी सब कुछ मालूम कर लिया जायेगा, तभी, सबसे बाद में ही यह पता चल सकेगा कि प्रतिभा क्या चीज है, वह कहां से आती है, कहां उसका वास होता है और क्यों वह एक आदमी को मिलती है और दूसरे को नहीं मिलती।

दो प्रतिभावान व्यक्तियों की प्रतिभा एक जैसी नहीं होती, क्योंकि समान प्रतिभायें तो प्रतिभायें ही नहीं होतीं। शक्ल-सूरत की समानता पर तो प्रतिभा बिल्कुल ही निर्भर नहीं करती। मैंने अपने पिता जी के चेहरे से मिलते-जुलते चेहरोंवाले बहुत-से लोग देखे हैं, मगर पिता जी के समान प्रतिभा मुझे किसी में भी दिखाई नहीं दी।

प्रतिभा विरासत में भी नहीं मिलती, वरना कला-क्षेत्र में वंशों का बोलबाला होता। बुद्धिमान के यहां अक्सर मूर्ख बेटा पैदा होता है और मूर्ख का बेटा बुद्धिमान हो सकता है।

किसी व्यक्ति में अपना स्थान बनाते समय प्रतिभा कभी इस बात की परवाह नहीं करती कि जिस राज्य में वह रहता है, वह कितना बड़ा है, उसकी जाति के लोगों की संख्या कितनी है। प्रतिभा बड़ी दुर्लभ होती है, अप्रत्याशित ही आती है और इसी लिए वह बिजली की कौंध, इंद्रधनुष्य अथवा गर्मी से बुरी तरह झुलसे और उम्मीद छोड़ चुके रेगिस्तान में अचानक आनेवाली बारिश की तरह आश्चर्यचकित कर देती है।

कैसे मैंने एक दोस्त खो दिया

एक दिन मैं अपनी मेज पर बैठा काम कर रहा था कि एक जवान घुड़सवार मेरे घर आया।

''सलाम अलैकम!''

''वालैकम सलाम!''

''रसूल, मैं तुम्हारे पास एक छोटी-सी प्रार्थना लेकर आया हूं।''

''भीतर आकर अपनी प्रार्थना मेज पर रख दो।''
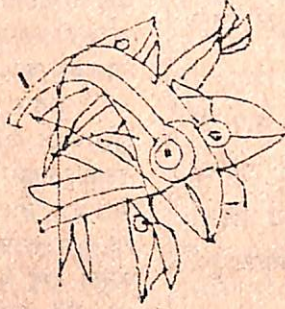
नौजवान ने जेब में हाथ डाला और सचमुच ही कुछ कागज निकालकर मेज पर रख दिये। पहला कागज मेरे पिताजी के परम मित्र और मेरे यहां भी अक्सर आनेवाले व्यक्ति का पत्र था। हमारे घर और परिवार के मित्र ने लिखा था-

''प्यारे रसूल, यह नौजवान हमारा नजदीकी रिश्तेदार और बहुत भला आदमी है। इसे अपने जैसा विख्यात कवि बनने में मदद दो।''

बाकी कागज थे- ग्राम-सोवियत का प्रमाण-पत्र, सामूहिक फार्म का प्रमाण-पत्र, पार्टी-संगठन का प्रमाण-पत्र और योग्यता-पत्र।

ग्राम-सोवियत के प्रमाण-पत्र में लिखा था कि फलां-फलां वास्तव में ही काहाब-रोस्सो के मशहूर शायर महमूद का भतीजा है और ग्राम-सोवियत के मतानुसार प्रसिद्ध दागिस्तानी कवियों की पांति में स्थान पाने का बहुत ही योग्य उम्मीदवार है।

दूसरे प्रमाण-पत्रों में यह बताया गया था कि महमूद का भतीजा पचीस साल का है, कि वह नवीं कक्षा तक पढ़ा है और बिल्कुल स्वस्थ है।

''बहुत खूब,'' मैंने कहा, ''लाओ, दिखाओ अपनी रचनायें। मुमकिन है कि तुम सचमुच प्रतिभाशाली हो और वक्त आने पर प्रसिद्ध कवि बन सको। मुझसे जो कुछ भी हो सकेगा, हर तरह से तुम्हारी मदद करूंगा और इस तरह हमारे साझे मित्र की प्रार्थना भी पूरी हो जायेगी।''

''पर यह तुम क्या कह रहे हो? मुझे तो तुम्हारे पास भेजा ही इसी लिए गया है कि तुम मुझे कविता लिखनी सिखाओ। मैंने तो अब तक कभी कविता नहीं रची।''

''तो तुम करते क्या हो?''

''सामूहिक फार्म में काम करता हूं। मगर इस काम से कुछ भी बनता-बनाता नहीं। श्रम-दिवस लिख लेते हैं, पर बाद में कुछ देते-दिलाते नहीं। कुनबा हमारा बड़ा है। इसी लिए मुझे कवि बनाने की बात सोची गयी है। मुझे मालूम है कि मेरे चाचा महमूद काफी कमाते थे, जितना मैं सामूहिक फार्म में कमाता हूं, उससे कहीं ज्यादा। कहते हैं कि रसूल, तुम भी खासे पैसे पाते हो।''

''मुझे लगता है कि बहुत चाहने पर भी मैं तुम्हें कवि नहीं बना सकूंगा।''

''यह तुम क्या कहते हो? मैं तो महमूद का भतीजा हूं। प्रमात्र-पत्र में सब कुछ लिखा हुआ है ? ग्राम-सोवियत भी मेरा समर्थन करती है और पार्टी-संगठन भी।''

''अगर तुम महमूद के बेटे भी होते, तब भी मैं कुछ न कर पाता। जैसा कि सभी जानते हैं, महमूद का बाप लकड़ी का कोयला बनाता था, कवि नहीं था।''

"तो बताओ, यह भी कोई इन्साफ है? तुम कवि और लेखक यहां मखचकला में साहित्य का चर्बीवाला धड़ आपस में बांट लेते हो। क्या मुझे कुछ अंतड़ियां भी नहीं मिल सकतीं? मैं अंतड़ियों के लिए भी राजी हूं। तो मैं अब क्या करूं? मुझे कहीं अच्छी नौकरी पाने में मदद करो। मेरे प्रमाण-पत्र बिल्कुल ठीक-ठाक हैं।"

महमूद का भतीजा होने के नाते हमने साहित्यिक-कोश से उसकी कुछ माली मदद कर दी और फिर मेरी प्रार्थना पर दागिस्तान बिजली मशीन कारखाने के डायरेक्टर ने उसे अपने यहां नौकरी दे दी।

मगर लोकप्रिय कवियों की पांति में जगह पाने के इस उम्मीदवार को अपने भाग्य से संतोष नहीं हुआ। कुछ ही समय बाद उसके पिता ने, जो हमारे मित्र थे, नाराजगी का यह पत्र भेजा-

"तुम्हारे पिता हमजात मेरी सभी प्रार्थनायें हमेशा पूरी करते थे। उन्होंने मुझे कभी किसी चीज के लिए इनकार नहीं किया था। मगर तुमने, हमजात के बेटे ने मेरा ऐसा छोटा-सा अनुरोध कि मेरे बेटे को कवि बना दो, पूरा करने से भी इनकार कर दिया। लगता है कि रसूल, तुम्हें घमंड हो गया है। तुम अपने बाप जैसे नहीं हो। मैंने कभी भी अपने दोस्तों से नाता नहीं तोड़ा, मगर अब ऐसा करना पड़ रहा है। बस, खत्म।"

तो इस तरह प्रतिभा के कारण या यह कहना अधिक सही होगा कि प्रतिभा के अभाव के कारण मैं एक अच्छा मित्र गंवा बैठा। मेरा मित्र सचमुच ही अच्छा आदमी था, पर सिर्फ इतना ही नहीं समझता था कि कोई भी, चाहे वह लेखक-संघ का अध्यक्ष, चाहे पार्टी संगठन का सेक्रेटरी, चाहे सरकार का अध्यक्ष ही क्यों न हो, वैसे ही प्रतिभा नहीं बांट सकता, जैसे मेज पर रखी, भुनी हुई गर्म-गर्म भेड़ के मांस के टुकड़े मेज के चारों ओर बैठे पहाड़ी लोगों में बांटे जाते हैं।

या फिर दागिस्तान के रास्तों पर जाते हुए हम माल से लदी बैलगाड़ी को ऊपर चढ़ते देखते हैं। एक आदमी उसे ऊपर की ओर खींचने में मदद देता है और दूसरा पीछे से धकेलता है।

या फिर हम भारी ट्रक द्वारा बर्फ के ढेर में फंसी छोटी-सी 'मोस्कवीच' कार को रस्से से अपने पीछे बांधकर खींचते हुए देखते हैं।

या फिर हमें यह नजर आता है कि तंग पहाड़ी रास्ते पर धीरे-धीरे चलनेवाला भारी ट्रक तेज कार को किसी भी तरह आगे नहीं निकलने देता।

प्रतिभा बैलगाड़ी नहीं है, जिसे दो आदमी मिलकर धकेल सकते या आगे खींच सकते हैं; प्रतिभा 'मोस्कवीच' कार भी नहीं है, जिसे रस्सा बांधकर खींचा जाये; प्रतिभा वह कार भी नहीं है, जो अपने लिए रास्ता बनाकर आगे न निकल सके।

प्रतिभा को पीछे से धकेलने की जरूरत नहीं होती और हाथ पकड़कर उसे आगे बढ़ाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। वह खुद अपना रास्ता बना लेती है और खुद ही सबसे आगे पहुंच जाती है। □

जयनंदन

समर्थ युवा कथाकार और समर्थतर कहानी की आपसी मुठभेड़

कहानी के इर्द-गिर्द

लिखने का हुनर हासिल करना सचमुच बहुत मुश्किल है। ईमानदारी से कहा जाये तो यह हुनर चंद खुशनसीब लोगों को ही हासिल हो पाता है। मैं यकीनन उनमें नहीं हूं।

कहानी इसीलिए अकसर मुझसे सवाल करती रहती है। एक दिन उसने मुझसे पूछा, 'जानते हो जय, दरअसल तुम मुझे नहीं लिखते, मैं तुम्हें लिखती हूं।'

मैं इससे इनकार न कर सका। यह ठीक ही तो है। कहानी लेखक के विभिन्न अनुभवों को और उसकी आकांक्षाओं, हसरतों, भावनाओं, वासनाओं और विचारों-चिंतनों को ही तो अभिव्यक्ति देती है।

कहानी ने कई बार बल्कि बार-बार मुझे मेरी औकात का एहसास कराया है। वह मेरे कान उमेठकर कहती रही है. ''तुम्हारी कलम के करघे पर लगभग सौ कहानियों की चादरें बुनी गयीं फिर भी तुम मुकम्मल बुनकर नहीं बन सके।''

अपने बारे में मुझे कभी कोई मुगालता नहीं रहा। खुद के लेखक होने पर आज भी मेरे मन में संशय है। अपने अतीत और पृष्ठभूमि को झांककर देखता हूं तो दूर-दूर तक लेखक बनने के कोई जैविक लक्षण मुझमें कभी नहीं रहे। न भाषा का संस्कार, न कोई साहित्यिक परिवेश और न ही इस दिशा में प्रेरित करने वाला कोई मार्गदर्शक। आज भी मुझे अपनी लिखी कहानियां ऐसा नहीं कि आत्ममुग्ध कर देती हों, बल्कि वास्तविकता यह है कि अब भी वे मेरे अधूरेपन का एहसास कराती हैं, और कहती हैं, 'तुम्हें बहुत कुछ सीखना है... बहुत कुछ पढ़ना है।'

मैंने यह मानते हुए भी एक बार यों ही चुटकी लेने के ख्याल से कहानी से पूछा, 'कहानी, तुम बता सकती हो, आज तक मुकम्मल कहानीकार कितने हुए?'

कहानी ने आज तक इसका जवाब मुझे नहीं दिया है।

बढ़िया कहकर कुछ लेखकों के नाम जरूर गिनाये मगर मुकम्मल की संज्ञा किसी को नहीं दी। सचमुच दुनिया में कुछ भी मुकम्मल कहां होता है! बल्कि त्रुटियां और कमियां ही हमें आगे बढ़ाती हैं और इन्हीं के कारण हम अपनी औकात की हदों से बाहर जाने की हिमाकत नहीं करते।

'तुम ठीक कहती हो, सच यह है कि तुम मुझे क्या, मैं खुद ही खुद को कहां समझ पाया! कभी लगता है कि मैं भीतर से भरा हुआ हूं और ढेर सारी सामग्री ओवरफ्लो हो रही है। कभी लगता है बिल्कुल खाली हूं और लिखने का ककहरा तक मुझे नहीं आता। कभी उत्साह से भरा होता हूं, ये लिखना है... वो लिखना है। कभी लगता है बहुत हो गया, क्या मिला इतना लिखकर भी! फिर ख्याल आता है कि कुछ मिले इसके लिए तो मैंने लिखना शुरू नहीं किया और फिर लगता है कि और क्या मिलता, जितना मिला क्या कम है! जहां तक मेरे द्वारा तुम्हें समझने की बात है कहानी, तुमने बिल्कुल ठीक कहा, मैं तुम्हें कहां समझ पाया! कितनी भी कहानी लिख लो, अगली कहानी जब आती है तो फिर एक चुनौती बनकर आती है और लगता है जैसे एकदम नया-नया लिखना शुरू किया है। लिखने का पूर्व का तजुर्बा कोई खास काम नहीं आता। अगर आता तो चार अच्छी कहानी लिखने के बाद पांचवीं लचर और सतही नहीं बन जाती। कहानी ही नहीं, शायद किसी भी सृजन के साथ तजुर्बे का मामला ज्यादा उपयोगी सिद्ध नहीं होता। फिल्मकार फिल्में बनाता है। दो बहुत हिट, परंतु तीसरी पिट जाती है। कई फिल्मों में जीवंत और प्रभावशाली अभिनय से स्टार बन गया अभिनेता अगली फिल्म में एकदम नकार दिया जाता है।

मैं नौकरी करता हूं और मेरे रोज के आठ-दस घंटे उसमें चले जाते हैं। देखने से ऐसा लगता है कि मेरा लेखन फुल टाइम नहीं पार्ट टाइम जॉब है। लेकिन मैं ऐसा मानता हूं कि नौकरी मेरा पार्ट टाइम जॉब है और दरअसल लेखन ही मैं फुल टाइम करता रहता हूं। कागज पर लेखन भले ही रोज नहीं होता है लेकिन चेतना हर वक्त इस फिराक में रहती है कि मुझे लिखना है और लिखने की कोई न कोई अस्पष्ट और अप्रकट योजना अंतर्मन में निरंतर चलती रहती है। यहां तक कि आफिस में काम कर रहा हूं, तब भी। सर्वाधिक संतुष्टि, सर्वाधिक सुख और सर्वाधिक तृप्ति तभी मिलती है जब कुछ लिखना संभव हो जाता है और ऐसा लगता है कि समय का सबसे बेहतर उपयोग करने में मैं सक्षम हुआ। न सिर्फ समय का बल्कि अपने अस्तित्व का, अपनी हैसियत का और अपने अनुभव एवं ज्ञान का भी। जब लंबे समय तक कागज पर कुछ साकार नहीं हो पाता तो एक खालीपन, एक अन्यमनस्कता, एक निस्सारता, एक

व्यर्थता का बोध बेचैन किये रहता है। ज्योंही कुछ रचना फलित होती है कि ढेर सारी संजीवनी जैसे भीतर प्रवेश कर जाती है... जो जिंदगी के दूसरे क्षेत्र की हताशा, निराशा, असफलता और अपमान को तिरोहित कर देती है तथा एक दिव्य और अलौकिक आनंद की अनुभूति होने लगती है। तात्पर्य यह कि भले ही उसे रचने में कुछ समय, चार-पांच घंटे ही लगे हों लेकिन लगता है जैसे कई-कई महीने मेरे सार्थक हो गये। छोटी-मोटी सृजन-अवधि भी बड़े-बड़े लेखनेतर कार्य के कई महीनों को तुच्छ साबित कर देती है। यहीं पर मुझे महसूस होता है कि लेखन दिमाग में मेरा फुल टाइम जॉब है। चूंकि मशीन चलाने की तरह, एकाउंट मेंटेन करने की तरह या रिपोर्ट लिखने की तरह कागज पर यह फुल टाइम किया भी नहीं जा सकता।

जब कहानी शुरू हो जाती है तो वह कई दिनों में पूरी होती है। लेकिन अधिकांश वक्त खाते-पीते, गपियाते, कहीं आते-जाते, सोते-बैठते भीतर कहानी घूमती रहती है, संवाद करती रहती है। और अपने रूप, गंध, सौंदर्य और अभिप्राय से रू-ब-रू कराती रहती है। मैं पूरी दुनिया से कटकर सिर्फ कहानी का होकर रह जाता हूं। कहानी जब चल रही होती है तो सिर्फ वही चलती है और मैं लगभग रुक जाता हूं। दूसरे किसी काम में मन नहीं लगता। लिखने के दरम्यान मैं बहुत स्वार्थी, बेईमान, अंतरमुखी और असामाजिक हो जाता हूं। चिट्ठी का जवाब तक मुझसे लिखा नहीं जाता। लगता है- जब तक कहानी पूरी न हो ले, कलम से निकलने वाले एक-एक अक्षर पर कहानी का हक है।

कहानी के बीज मेरे अंदर कभी कोई बेहतरीन कहानी या उपन्यास पढ़ते हुए उपजते हैं, कभी एकांत में अपने अतीत को सोचते हुए, कभी समाज में कुछ घटित होते देखते हुए। एकाध बार तो पूरी की पूरी कहानी का सपने में उभरकर अवचेतन में अंकित होने का चमत्कार भी हुआ है। ऐसी कहानियों में मुझे कुछ खास बुनना-गुनना भी नहीं पड़ा है, जैसे किसी ने पूरा प्लॉट तैयार करके डिक्टेट कर दिया हो। लेकिन आमतौर पर मुझसे एक सीटिंग में कहानी पूरी नहीं होती। कहानी ज्यों दिमाग में खुलती है और विजुअलाइज होती है, उसके मुख्य-मुख्य बिंदुओं को कागज पर नोट करता चलता हूं। जब लगता है कि पूरा खाका अब तैयार हो गया तो लिखना शुरू कर देता हूं। कई चीजें जो अनसुलझी रह जाती हैं, वे लिखने के दरम्यान फ्लो में खुद ही हल हो जाती हैं। जब तक लिखना पूरा नहीं हो जाता, उसे बार-बार पढ़ता हूं। इसी क्रम में जोड़-तोड़ और रद्दोबदल का एक सघन अभ्यास जारी रहता है। यह क्रम अंतिम ड्राफ्ट के फेयर होने तक चलता है। इसलिए कि फेयर करने का काम भी कई रोचक चरणों में आगे बढ़ा है। अच्छी हस्तलिपि नहीं होने के कारण हाथ से फेयर करना कभी संतोषप्रद नहीं रहा। इसलिए शुरू में ही मैंने टाइपराइटर खरीद लिया। जुनून ऐसा था कि खुद के अभ्यास से अपने घर पर ही मैंने इसे साध भी लिया।

कारखाने में मशीन चलाने से स्थानांतरित होकर जब ऑफिस में कलम चलाने की जगह पर पहुंचा तो वहां इलेक्ट्रॉनिक टाइपराइटर मशीन थी। इसके बाद कम्प्यूटर भी आ गया। अपने घर का टाइपराइटर मैंने एक नये लेखक-मित्र श्री कमल को बेच दिया। उस टाइपराइटर पर ही मैंने अपने उपन्यास 'श्रम एव जयते' और 'ऐसी नगरिया में केहि विधि रहना' को टंकित किया है और मेरी तरह उन्होंने भी अपने घर में टंकण सीखा है। इन दिनों कम्प्यूटर पर फेयर करना काफी आसान हो गया है। कहीं भी आसानी से कुछ भी बदला जा सकता है और कुछ भी जोड़ा जा सकता है।

एक कहानी लिख लेने के बाद कई बार ऐसा लगता है कि अब मैं अगली कहानी शायद नहीं लिख पाऊंगा। चूंकि अपने तेवर के अनुरूप शायद मैं कोई अनछुआ विषय ढूंढ़ ही न पाऊं। मगर हर बार यह गलत साबित हुआ और अगली कहानी ने फिर से दस्तक दी। थीम के मामले में मैं कभी मोहताज की स्थिति में नहीं रहा। चूंकि जीवन ने मुझे अपने इतने शेड और जलवे दिखाये हैं, कई-कई दिशाओं में दौड़ लगवाकर इतनी पटकनियां लगवायी हैं कि याद करने पर चोट खाये जिस्म के घाव कभी भी हरे हो जाते हैं। हर जख्म की टीस के अलग रंग, अलग रूप, अलग फ्लेवर और अलग गाथा है। एक साथ ये याद नहीं आतीं... रह-रह कर ये याद आती हैं जब वैसा ही कोई साम्य कहीं दिख जाता है। आज गांव छूटे हुए कई वर्ष हो गये, फिर भी वहां के कई ऐसे मुद्दे हैं जिन्होंने अब तक कहानी का लिबास धारण नहीं किया है। अभी भी कई ऐसे किरदार बचे हुए हैं जो विडंबनाओं और संघर्षों की मानो प्रतिमूर्ति हैं।

पिछले दिनों मैं गांव गया तो अचानक विद्यार्थी काल के दो दोस्त मिल गये। उनकी युवावस्था का रुतबा-जलवा अचानक कौंध गया... ताज्जुब हुआ कि अब तक मेरे कथा-चक्षु से ओझल कैसे रह गया यह विषय! इनमें एक आरिफ रजा था, जो फिल्मों में हीरो बनने का जुनून रखता था। मुझे याद आया कि उसका चेहरा-मोहरा सचमुच बहुत खूबसूरत था और गांव की एक अति सुंदर, अति मेधावी और दुर्लभ लड़की सोगरन खातून उसे दिलोजां से प्यार करती थी। सोगरा का आरिफ को तरजीह देना गांव की एक बड़ी घटना थी और आरिफ की एक बड़ी उपलब्धि। वह इस इलाके के इकलौते राजकीय अस्पताल के एक लोकप्रिय डॉक्टर की लाडली बेटी थी। आरिफ जब-जब बंबई से निराश होकर लौटता था तो वह समझाती थी कि फिल्मों में तुम्हें काम न मिलने के बावजूद तुम हीरो हो, चूंकि तुम्हें मैं प्यार करती हूं और यह पूरा गांव तुम्हें अपना हीरो मानता है। आगे चलकर आरिफ कहीं का न रहा, उसके जो भाई उसे हीरो बनाने की तमाम सहूलियतें मुहैया कराते थे, वे अब अलग हो गये थे और आरिफ को खेतों में हल जोतने के लिए बाध्य होना पड़ा था। बात यहीं तक होती

तो शायद कहानी का मामला बहुत फिट नहीं बैठता। आरिफ का बेटा जब बड़ा हुआ तो वह भी हीरो बनने के लिए पागल हो गया। आरिफ की जान जैसे बिच्छू के डंक पर टंग गयी हो, क्या कहे वह अपने कूढ़मगज बेटे को! उसने कहा, 'सुखी रहना है तो कहीं क्लर्की की नौकरी ढूंढ़ लेना ज्यादा मुफीद होगा, वरना हीरो का ख्वाब देखकर मेरी तरह हल जोतोगे। आजकल पंचानवें प्रतिशत हीरो वे ही बनते हैं जो पूर्व हीरो के बेटे होते हैं।' कहते हैं फिर भी आरिफ का बेटा भागकर बंबई चला गया और आरिफ ट्रेन के पीछे पागलों की तरह दौड़ता रह गया। सोगरा, जो अब खुद भी डॉक्टर हो गयी थी उसका इलाज करने लगी। आखिर कभी उसने आरिफ से प्रेम किया था।

यह प्लॉट अपने आप ही टकरा गया मुझसे। अकसर ऐसा ही होता है। मुझे भागना नहीं पड़ता उसके पीछे। सरोकार, प्रासंगिकता, सामयिकता, नयापन आदि की कसौटी पर विषय को बस जरा कसने की जरूरत होती है और कस गया तो बात आगे बढ़ जाती है। कभी-कभी विश्वसनीयता और प्रामाणिकता लाने हेतु फील्ड वर्क की भी जरूरत पड़ जाती है और स्थितियों एवं चरित्रों में गहरे उतर पैठना पड़ता है।

आजीविका चूंकि सृजनात्मक लेखन से नहीं चलती, इसलिए कलम से कुछ ऐसे अवांछित काम लेने पड़ते हैं, जिनसे हृदय को कचोट पहुंचती है। अगर ऐसा हो पाता कि कलम की सारी ऊर्जा पर सिर्फ सृजन का अधिकार होता तो शायद आत्म-सम्मान और बड़ा होता तथा सृजन की धार और पैनी होती। लेकिन मुझे अक्सर बेहद वाहियात और नाकारा व्यक्तियों, घटनाओं और संदर्भों के बारे में बढ़ा-चढ़ा के लिखना पड़ता है। मुझे वाकई ऐसा करते हुए बहुत कष्ट होता है। मुझे खुद को देखकर कई बार दरबारी कवियों या चारण-भाटों की याद आ जाती है, जिन्हें अन्नदाता हुक्मरानों की झूठी प्रशंसा में कसीदाकारी करनी पड़ती थी। जरूर गहन मजबूरी में ही वे ऐसा करते रहे होंगे, वरना स्वेच्छा से तो कोई रचनाकार या कलमकार अपने आत्म-स्वाभिमान की ऐसी दुर्गति कतई नहीं होने देगा।

मुझे कई बार यह लगता है कि ऐसी विवशता के शिकार बहुतायत वे लेखक भी हैं जो किसी नौकरी में नहीं हैं। समाज को तोड़ने और नेस्तोनाबूद करने वाले सफेदपोश सच लगभग सभी के आसपास होते हैं, जिनका इजहार न करके अपनी सेहत के लिए मौन रह जाना ज्यादा बेहतर समझ लिया जाता है। यह आचरण एक तरह का समझौता है और यह समझौता एक तरह का आत्म-स्वाभिमान पर आघात। गलत और अनुचित के खिलाफ मौन रह लेना, हो जाना भी एक तरह की चारणगिरी ही तो है। कई बार मुझे यह बोध भी होता है कि लेखन के लिए मैं बहुत उपयुक्त शहर में नहीं रहता। मेरे ख्याल में लेखन की दृष्टि से देश में कुछ ऐसे शहर हैं, जहां आप में 60 प्रतिशत प्रतिभा और श्रम हो तो रिटर्न आप 100 प्रतिशत प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन हमारे जैसे शहर में आप में 100 प्रतिशत लगन-निष्ठा हो तो रिटर्न 60 प्रतिशत ही मिल पाता है। साहित्यिक माहौल, गोष्ठियां, परिसंवाद या मूल्यांकनपरक विमर्श की दृष्टि से यह शहर विपन्न है। मजदूरों का शहर है, पर उनके हकों की लड़ाई लड़ने वाला एक भी दमदार मंच नहीं। सबके गले में जैसे किसी ने फांस लगाकर रख दी हो। वैसे मैं अपने इस शहर को बहुत प्यार करता हूं और मुझे इसे छोड़कर दूसरी जगह रहने के लिए कहा जाये तो मुझे लगेगा कि मैं अपनी आधी मौत मरने जा रहा हूं। एक ऋण भी महसूस करता हूं इस शहर का कि इसने भूखे पेट को रोटी दी और लिखने का जितना भी संस्कार मैं ग्रहण कर सका, इसी ने उपलब्ध कराया। फिर भी एक मिट्टी में जैसे हर प्रकार के पेड़ उगाने की क्षमता नहीं होती, मेरे इस शहर में भी लेखक को बोने-उगाने की उर्वरा शक्ति शायद नहीं है। यों यहां रहकर ही लेखन ने मुझे जितना दिया, शायद शिकायत की बहुत जगह नहीं है मेरे लिए।

जिस तरह कहानी मेरी बहुत शुभचिंतक है और मेरी आलोचक भी, उसी तरह इन दिनों एक कथा हस्ती मेरी बहुत घनिष्ठ, आत्मीय और अंतरंग है। इससे मिलने के बाद मुझमें कुछ वो अनुभूतियां भी उगने लगीं, जिनसे मैं अब तक वंचित था। मेरे लेखन के लिए इसका मिलना एक उपलब्धि है और एक बड़ा पुरस्कार भी। वह हस्ती बार-बार मुझसे कहा करती है, "तुममें बहुत आग है, बहुत प्रतिभा है, बहुत वैरिएशन है। तुम कालजयी लेखन कर सकते हो, बशर्ते कि अपने अध्ययन को विस्तृत बनाओ, पूरी एकाग्रता और समर्पण के साथ अपने समय का पूरा उपयोग करो। प्रकृति किसी को भी पूर्ण नहीं बनाती, उसे तराशना, निखारना और मांजना पड़ता है।"

मैंने उस हस्ती से कहा, "संयोगों और परिस्थितियों ने मार-मारकर मुझे लेखक बनाया है। मुझे यह पूरा एहसास है कि मैं एक मामूली और तुच्छ व्यक्ति हूं। मैं अपनी लय, हैसियत और तेवर में ही अपना काम कर सकता हूं। समय के तराजू पर कल किस रचना का क्या वजन होने वाला है, इसकी परवाह न करके मुझे अपने समय के संक्रमणों से जूझने में ध्यान लगाना ज्यादा जरूरी लगता है। ऐसे भी प्लानिंग करके लिखने से ही कोई रचना कालजयी नहीं हो जाती।"

यों मैं इससे सहमत हूं कि खुद को वजनदार बनाने के लिए अध्ययन से बड़ा दूसरा कोई विकल्प नहीं है। मगर इसी बिंदु पर मुझे यह भी लगता है कि बहुत बौद्धिक और मर्मज्ञ होकर भी बहुत धारदार और सक्रिय रचनात्मक लेखन नहीं किया जा सकता। बल्कि बेधड़क और लोकोपवाद आदि से निरपेक्ष होकर लिखने के लिए थोड़ा-सा भोथरापन, थोड़ा-सा डोल्टपन, थोड़ा-सा भोलापन, थोड़ी-सी अज्ञानता, थोड़ी-सी बेवकूफी और थोड़ी सी खुशफहमी जरूरी है ताकि हम लिखें तो मन में एक अबोध इत्मीनान और विश्वास हो कि हम जो लिख रहे हैं वह अभूतपूर्व और अनूठा है। □

विवेक त्यागी

युवा लेखक तथा पत्रकार द्वारा हिंदी की विकास यात्रा के चरण-चिह्नों की पहचान

कोस-कोस पर पानी बदले, दस कोस पर बानी...

मनुष्यों को ही नहीं, पशुओं को भी होती है भूख, भय और प्रेम की अनुभूति। वे उसे सांकेतिक भाषा में अभिव्यक्त करते हैं।

सभी प्राणियों में मनुष्य सबसे अधिक सचेत, भावप्रवण तथा संवेदनशील है। वह प्रकृति पर विजय पाने के लिए निरंतर संघर्ष करता रहा है। इस संघर्ष में उसे बार-बार अपने को अभिव्यक्त करने की आवश्यकता महसूस होती रही। अपने संवेगों तथा सूक्ष्म संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने की आवश्यकता भी वह महसूस करता रहा। जैसे-जैसे मनुष्य का विकास होता गया, वैसे ही भाषा भी विकसित होती गयी।

हजारों वर्ष पहले भारत में दो मुख्य परिवार थे। उत्तर भारत में आर्य-परिवार और दक्षिण भारत में द्रविड़-परिवार। दोनों परिवारों की कई-कई बेटियां थीं। वे देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में गयीं और वहां उन्होंने अपने-अपने परिवार बसा लिये।

आर्य परिवार की बेटियों में अपनी विशिष्ट पहचान बनाने वाली हिंदी, मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिंधी, बांग्ला, उड़िया, असमिया आदि हैं। इन सबकी जननी संस्कृत है। कहा जाता है कि वैदिक सभ्यता संसार की सबसे प्राचीन सभ्यता है, ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रंथ है और संस्कृत सब भाषाओं की जननी है। एक समय संस्कृत पूरे भारत में समझी जाने वाली भाषा थी। आदि शंकराचार्य ने संस्कृत के माध्यम से ही पूरे देश में अद्वैत-सिद्धांत का प्रचार किया था।

मुस्लिम शासन काल में उर्दू सैनिक भाषा या लश्करी जबान के रूप में विकसित हुई। उर्दू के लफ्जी मानी ही लश्कर हैं। पुरानी दिल्ली में आज भी एक उर्दू मस्जिद है। किसी वक्त वहां फौज के जवान नमाज अता करते थे, इसलिए उसका नाम उर्दू मस्जिद पड़ गया। उर्दू का मूल आधार दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली है। मुस्लिम शासन के प्रभाव में अरबी-फारसी के भी काफी शब्द उसमें आ गये। फौज में विभिन्न प्रदेशों के जवान होते थे, इसलिए दूसरी भाषाओं के शब्द भी उर्दू में मिल गये हैं। बाद में उर्दू दरबार की और अदब यानि साहित्य की भाषा भी बन गयी।

राजनीतिक तथा सामाजिक कारणों से भाषा के क्षेत्रों का विस्तार भी होता रहा। हिंदी मूलत: उत्तर की भाषा है लेकिन अकबर ने दक्खिन पर विजय प्राप्त कर वहां अलग सूबा बनाया तो सरकारी कामकाज दिल्ली के आसपास की भाषा हिंदी में होने लगा। हिंदी में वहां की स्थानीय बोलियों के कुछ शब्द भी आ मिले। वहां जो हिंदी प्रचलित हुई, उसे दक्खिनी हिंदी कहा गया।

द्रविड़ परिवार की बेटियों में तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम प्रमुख हैं। भौगोलिक, राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार इनका स्वतंत्र विकास हुआ लेकिन इनमें पर्याप्त संख्या में संस्कृत शब्द भी हैं।

आर्य तथा द्रविड़ परिवार की बेटियों में बहुत मेलजोल था। वे निरंतर एक दूसरी के संपर्क में रहतीं और उनमें आदान-प्रदान चलता रहता। यही कारण है कि द्रविड़ परिवार की भाषाओं में आर्य परिवार की भाषाओं के बहुत से शब्द समा गये, ठीक वैसे ही जैसे आर्य परिवार की भाषाओं में द्रविड़ परिवार की भाषाओं के बहुत से शब्द आ मिले।

दोनों परिवार की बेटियों की भी बहुत सी बेटियां हुईं। वे अलग-अलग क्षेत्रों में फैलती गयीं। देश में अनेक भाषाएं और बोलियां हो गयीं। भौगोलिक परिस्थिति और जीवन शैली के अंतर के कारण थोड़े-थोड़े फासले पर उन भाषाओं और बोलियों का लहजा और तेवर बदलता गया। कहावत है : 'कोस-कोस पर पानी बदले, दस कोस पर बानी।' पानी और बानी का यह अंतर ही हमारे देश को बहुरूपी छवि प्रदान करता है। सभी भाषाओं और बोलियों में कुछ न कुछ असमानताएं हैं। लेकिन पानी और बानी की अनेकता के बावजूद उनमें एकता भी है, जो भिन्न-भिन्न प्रदेशों को मिलाकर एक राष्ट्र का रूप देती है।

एक दिलचस्प सवाल- हम जो हिंदी बोलते हैं और जिसमें सारा कार्य-व्यापार करते हैं, उसका जन्म और विकास कब और कैसे हुआ? लगभग 2000 वर्ष पहले हमारे देश के कुलीन वर्ग की भाषा संस्कृत थी। शास्त्र और उस समय के तमाम साहित्यिक ग्रंथ संस्कृत में ही हैं। जन साधारण की भाषा उस समय भी प्राकृत, अपभ्रंश अथवा पालि थी। गौतम बुद्ध अपना धर्म जन सामान्य तक पहुंचाना चाहते थे इसलिए उन्होंने अपने प्रवचन प्राकृत अथवा पालि में ही दिये।

व्याकरण तथा शास्त्र के नियमों में बंधकर कोई भाषा जब जड़ हो जाती है तो उसके विरुद्ध विद्रोह होता है

और भाषा लोक की ओर जाती है। संस्कृत व्याकरण के नियमों को तोड़कर प्राकृत और फिर अपभ्रंश विकसित हुई। संस्कृत नाटकों में राजा-रानी और मंत्री आदि कुलीन वर्ग संस्कृत में तथा जन सामान्य प्राकृत में अपनी बात कहते हैं। प्रकट है कि उत्तर काल में संस्कृत केवल कुलीनों की भाषा रह गयी थी और जन सामान्य ने प्राकृत को अपना लिया था। इसी प्रक्रिया में प्राकृत से अपभ्रंश और उससे हिंदी का विकास हुआ।

हिंदी का आरंभ दसवीं सदी के आसपास माना जाता है संस्कृत से हिंदी तक आते शब्द कैसे रूप बदलते गये, इसका उदाहरण संस्कृत शब्द 'कर्म' है। प्राकृत और अपभ्रंश में यह 'कम्म' हो गया और हिंदी में 'काम' बन गया। इसी तरह संस्कृत शब्द 'मृत्तिका' पहले 'मट्टिआ', फिर 'माटी' और अंत में 'मिट्टी' रह गया। सोलहवीं शताब्दी तक आते-आते हिंदी की दो शाखाएं- ब्रज और अवधी-साहित्य की भाषाओं के रूप में स्थापित हो चुकी थीं। भक्तिकालीन कवियों- सूरदास, मीराबाई, नंददास, हित हरिवंश और महाकवि तुलसीदास की रचनाएं इन्हीं भाषाओं में हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिकरण और छापेखाने के भारत में आने के बाद गद्य का विकास हुआ। गद्य की भाषा खड़ी बोली बनी। इसे भारतेंदु हरिश्चंद ने विकसित और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कारित किया। यही खड़ी बोली राष्ट्रीय आंदोलन की भाषा बनी और यही आधुनिक हिंदी साहित्य की भाषा है। यह देश के सबसे बड़े भू-भाग में, सबसे अधिक लोगों द्वारा बोली जाती है, इसलिए संविधान-निर्माताओं ने इसे ही राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत किया। आज हिंदी देश के सभी विश्वविद्यालयों और बहुत से विदेशी विश्वविद्यालयों में पढ़ायी जा रही है और विश्व की महत्वपूर्ण भाषाओं में से एक मानी जाती है।

हिंदी की कुल शब्द-संपदा लगभग दो लाख है। इनमें लगभग 85 प्रतिशत शब्द हिंदी के हैं और 15 प्रतिशत बाहरी प्रभाव से आये हैं। हिंदी की विशेषता यह है कि इसने उदारतापूर्वक बाहरी शब्दों को ग्रहण किया और अपने आपको संपन्न बनाया। इस मामले में अंग्रेजी भी बहुत उदार है। अंग्रेज जहां-जहां गये, वहां अंग्रेजी भी गयी। वह स्थानीय भाषाओं के संपर्क में आयी और आवश्यकतानुसार उनके शब्दों को समाहित करती गयी। अधुनातन अंग्रेजी शब्दकोष में हाथी, महावत, हौदा, हुक्का, बाजार, राजा, अंगरखा, शेरवानी जैसे हिंदी शब्द भी मिल जाएंगे। अंग्रेजी ने दूसरी भाषाओं से भी शब्द लिये और समृद्ध होती गयी।

हिंदी में अंग्रेजी के बहुत से शब्द थोड़ा रूप बदल कर ऐसे घुलमिल गये हैं कि आज उन्हें पहचानना भी मुश्किल है। अस्पताल, डॉक्टर, बटन, पब्लिक, नोट, लालटेन, इनकम, टाइम, बैंक आदि ऐसे ही शब्द हैं।

हिंदी के कुछ विद्वान शुद्धता के नाम पर दूसरी भाषाओं के शब्दों का निषेध करते हैं। लेकिन यह स्वस्थ परंपरा नहीं है। इससे भाषा का विकास अवरुद्ध होता है और अंततः एक दिन वह मृत घोषित कर दी जाती है। भाषा तभी तक विकासमान रहती है, जब तक वह दूसरी भाषाओं से शक्ति लेती रहे और उन्हें शक्ति देती रहे।

हिंदी में पांच प्रकार के शब्द प्रचलित हैं :

तत्सम शब्द : तत्सम का अर्थ है- तत्+सम अर्थात उसके समान। यहां 'उसके' संस्कृत के लिए प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत हिंदी की जननी है, इसलिए हिंदी के अधिकांश शब्द संस्कृत से ही आये हैं। कुछ उदाहरण हैं :

अग्नि, विद्या, कवि, अनंत, अग्रज, कनिष्ठ, काव्य

तद्भव शब्द : तद्भव का अर्थ है- तत्+भव, अर्थात उससे उद्भूत (उत्पन्न)। 'उससे' का अर्थ यहां भी संस्कृत ही है। इस श्रेणी में वे शब्द आते हैं, जो संस्कृत शब्दों से उत्पन्न होकर विकसित हुए लेकिन उनमें पर्याप्त अंतर आ गया। हिंदी के सभी क्रियापद और सर्वनाम तद्भव हैं। कुछ तद्भव शब्दों की व्युतपत्ति, उनके विकास और वर्तमान रूप के उदाहरण हैं :

अद्य	अज्ज	आज
ग्राम	गाम	गांव
वरयात्रा	बरात्रा	बरात
श्यामल	सामल	सांवल

देशज शब्द : इसके अंतर्गत वे शब्द आते हैं, जो लोकभाषा में जन्मे और प्रचलित हुए। संस्कृत में उनका मूल नहीं ढूंढ़ा जा सकता। इस श्रेणी के कुछ शब्द हैं :

धक्का, टक्कर, जगमग, ठनक, झिलमिल, झनकार

द्रविड़ परिवार की भाषाओं के शब्द : हिंदी ने बहुत से शब्द द्रविड़ परिवार की भाषाओं से लिये हैं। जैसे 'काफी' तमिल के 'काप्पी' का परिवर्तित रूप है और 'पिल्ला' तेलुगू से लिया गया है।

विदेशी शब्द : हिंदी में विदेशी शब्दों का प्रयोग दसवीं शताब्दी में विदेशी आक्रमणकारियों के आने के

साथ ही होने लगा था। विशेष रूप से निम्नलिखित विदेशी भाषाओं के शब्द हिंदी में प्रयुक्त होते हैं :

फारसी- कमीज, पाजामा, देहात, शहर, सब्जी, अंगूर, हलवा, जलेबी, सख्त, मकान, दवा, मरीज, हकीम, बुखार आदि।

अरबी- अदालत, किताब, क़लम, काग़ज़, शैतान, मुकदमा, फैसला आदि।

तुर्की- बहादुर, कैंची, बेगम, बाबा, कुर्ता, गलीचा, चाकू, गनीमत, सुराग, लाश आदि।

पश्तो- पठान, गुंडा, अचार, डेरा, गड़बड़, नगाड़ा, हमजोली, मटरगश्ती आदि।

पुर्तगाली- आलमारी, आया, कनस्तर, गोदाम, चाबी, गमला, तौलिया, परात, पावरोटी, पिस्तौल, बाल्टी, बिस्किट आदि।

अंग्रेजी- इंजन, मोटर, कैमरा, रेडियो, मीटर, हॉस्टल, फीस, स्टेशन, अफसर, कंपनी, टीम, परेड, प्रेस, अपील, कोर्ट, पॉकेट, टाई आदि।

इनके अतिरिक्त फ्रेंच, डच, स्पेनी, जर्मन, चीनी, तिब्बती और जापानी आदि भाषाओं के शब्द भी हिंदी में प्रचलित हैं।

शब्द ही नहीं, दूसरी भाषाओं की ध्वनियों, वाक्य रचना, मुहावरों और कहावतों को भी हिंदी ने ग्रहण किया है।

रोजमर्रा के कार्यकलापों और विचारों को अभिव्यक्त करने वाली एक भाषा है और भावनाओं तथा सूक्ष्म संवेदनाओं को व्यक्त करने वाली दूसरी भाषा। इस दूसरी भाषा की शक्ति को गद्य में कविता रचने वाले 'महाकवि' फणीश्वर नाथ 'रेणु' से बेहतर कौन समझेगा! स्वयं रेणु के शब्दो में :

अपनी बानी प्रेम की बानी
घर समझे न गली समझे,
या इसे नंद-लला समझे जी।
या इसे ब्रज की लली समझे।

इसकी अदा पर मर गयी मीरा
मोहे दास कबीर,
अंधे सूर को आंखें मिल गयीं
खाकर इसका तीर।
चोट लगे तो कली समझे इसे
सूली चढ़े तो अली समझे।
मस्ती के बन की है यह हिरनिया
घूमे सदा निर्द्वंद्व,
रस्सी में इसको बांधो न, साधो
घर में करो न बंद।
हम भी मरम समझे इसका पर,
फूंक के बाती जली समझे।

अपनी बानी प्रेम की बानी
घर समझे न गली समझे,
या इसे नंद-लला समझे जी,
या इसे ब्रज की लली समझे। □

समीक्षा

नीरज कुमार

आधुनिक साहित्य के गंभीर अध्येता एवं समीक्षक द्वारा संघर्षशील कवि चंद्रभान की कविताओं का आकलन

बदलेगा मौसम का मिजाज...

एंगेल्स का एक महत्वपूर्ण लेख है- वानर से नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका। इसमें एंगेल्स ने विस्तार से बताया है कि श्रम से जुड़ने के बाद वन में रहने वाला मनुष्य किस तरह सभ्य होता चला गया। श्रम से जुड़ने के बाद वनमानुष ने कैसे हाथों का इस्तेमाल करना सीखा। कैसे स्वरतंत्र को नियंत्रित करके बोलना सीखा। कैसे धीरे-धीरे वनमानुष सामाजिक हो गया। लेकिन 'इरादे तभी करवट लेते हैं' के कवि चन्द्रभान को लगता है कि हमारी सभ्यता के विकास ने श्रम से जुड़े उस मनुष्य को पुनः वनमानुष बना दिया है। हाथों का इस्तेमाल वह मनचाहे ढंग से नहीं कर सकता। स्वरतंत्र पर अदृश्य शिकंजा कसा जा चुका है। सामाजिकता एक त्रासद बेगानेपन में बदल चुकी है। कवि इस अस्वाभाविक रूपांतरण को स्वीकार नहीं कर पाया है। कवि की चेतना अपनी संपूर्ण प्रतिबद्धता के साथ असंगत जीवन स्थितियों को संगत बनाने में जुटी है। इसलिए श्रम, श्रमिक वर्ग तथा श्रम से जुड़ी जीवन स्थितियां चन्द्रभान की रचनाओं में पर्याप्त स्थान घेरती हैं। आज के दौर में मेहनतकश जनता से संवेदनात्मक धरातल पर ऐसा सामीप्य चूंकि विरल है, इसलिए प्रशंसनीय है।

चन्द्रभान का रचनाकार अत्यधिक संवेदनशील है। कवि की संवेदना समावेशी होकर फैलती है। वह अपने को अपने जैसों में देखता है। अपने जैसों को खुद में तलाशता है। रचनाकार बिना किसी छल-छद्म के संवेदित जीवन-स्थितियों तक पहुंचने की ईमानदार कोशिश करता है। वह अपने आप को खेत में बीजों की तरह बिखेर देना चाहता है। मेरी समझ में यह खेत समाज ही होना चाहिए जहां कवि खुद को मिट्टी में अंखुए की तरह फूटता हुआ पाता है। संग्रह की पहली कविता 'रचनाकार' में कवि कहता है-

> किसी की जबान/किसी की निगाह
> तो किसी के दिलो-दिमाग में/फूटते पाया खुद को
> मिट्टी में अंखुए की तरह-

कवि का अहम अभिव्यक्ति में बाधक नहीं है।

वह आत्मा-अधीरा को तलाशता घूमता है इसलिए अपने काव्य-पूर्वजों की तरह खुद को दिए-दिए फिरता है।

बेईमानी से भरी जीतों के दौर में ईमानदारी से प्रयास करना, हालात के घुप्प अंधेरे के सामने ऊर्जावान अंत:स्थल के चकमक के पहाड़ की तरह खड़ा कर देना, कवि की जीतोड़ कोशिशों का सबूत है। हालात वैयक्तिक न होकर बहुधा सामाजिक होते हैं। हालांकि कवि जानता है बेहतरीन दुनिया रचना किसी का निजी मामला नहीं है। फिर भी वह आवेश में खुद को अंधेरे के समक्ष खड़ा कर देता है। परंतु जल्द ही चकमक का पहाड़ धसकने लगता है। अभिप्रेत जीवन स्थितियों तक पहुंचने की बेचैन छटपटाहट कवि में स्पष्ट दिखती है। इस बेचैनी के दो नतीजे संग्रह की अनेक कविताओं में साफ तौर पर दिखाई देते हैं। एक जल्दबाजी और दूसरी सामाजिकता। यथास्थितिवाद की त्रासद कॉन्टिन्यूटी को कवि जल्द से जल्द तोड़ना चाहता है। इसलिए कभी बीज बन जाता है तो कभी चकमक का पहाड़ और कभी आततायी चक्रवात के समक्ष न झुकने वाला बांस। बहुविध प्रयास करने पर भी कवि के हाथ असफलता ही लगती है। लेकिन वह निराश नहीं है। आशा उसका सबसे मजबूत सम्बल है और सामाजिकता उसकी कविता का सशक्त आधार। निराश होने पर वह अंतर्मुखी नहीं होता।

अपने जीवन का घुप्प अंधेरा उसे दूसरों के जीवन के अंधेरे से जोड़ता है इसलिए अंधेरे के खिलाफ कवि जंग छेड़ता है। 'समक्ष' शीर्षक कविता में हालात घुप्प अंधेरे की तरह हैं जो अंत:स्थल की समस्त ऊर्जा को लील जाना चाहते हैं। बचपन कविता में वही हालात सींखचों की तरह हो गए हैं, जो एक ऐसी हवालात बनाते हैं जिससे बाहर निकलना असंभव जान पड़ता है। कवि खुद को इन बेगुनाह हवालातियों के साथ बंद पाता है।

अभावग्रस्त जीवन स्थितियां कवि की स्मृति में इतनी गहराई से दर्ज हैं कि जरा सी स्थिति साम्यता पाते ही कवि संवेदित हो उठता है। अपनी बस्ती के नन्हें बालक का दबे पांव आकर किताब पर हाथ रख देना, पढ़ाने के लिए मनुहार करना कवि को गहरे तक झकझोर देता है।

नन्हें के पिता छंटनी के जबड़े से छूट कर चौराहे पर बिजूके की तरह खड़े हैं। मां सायरन बजते ही कारखाने की लक्ष्मण रेखा पार कर जाती है। कवि प्रतीकों का प्रयोग बहुत मानीखेज ढंग से करता है। बिजूका कृषि-व्यवस्था का शब्द है। खेत में बांस पर टंगा बिजूका अपनी समस्त प्राणहीनता के बावजूद सजीव होता है, सार्थक होता है। ग्रामीण किसान का बिजूके में बदलना खेत के बचाव का कारण बनता है। लेकिन शहरी कामगार का बिजूके में बदलना न केवल उसकी सजीवता का क्षरण है बल्कि उसकी निरर्थकता का

भी द्योतक है।

नन्हें के पिता, पिता होने का अर्थ खो चुके हैं। बेरोजगार अर्थहीन पिता अपने को कितना निरर्थक महसूस करता है। 'बचपन' कविता इसका तीव्र अहसास करवाती है। कविता पढ़ते हुए निराला की पंक्तियां स्मरण हो आती हैं-

धन्ये मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित कर न सका (सरोज-स्मृति)

छंटनी से छूटे नन्हें के पिता का चौराहे पर बिजूका बन जाना, शहरी कामगार की नियति बनता जा रहा है। दिल्ली की स्लम कहलाने वाली बस्तियों, जिन्हें कवि महानगर की सौतेली बस्तियां कहता है, के चौराहों पर ताश खेलते अधेड़ पुरुषों की जमात इन्हीं बिजूकों के कारण बनी है। चाय-बीड़ी और खैनी को तरसते ये बेरोजगार पिता शाम को घर लौटने से प्रायः कतराते हैं।

इन्हीं जीवन स्थितियों के चलते संभवतः चन्द्रभान श्रम से जुड़ी मेहनतकश जनता से काफी जुड़ाव महसूस करते हैं। उन्हें अब भी यकीन है कि मौसम का मिजाज बदलने की क्षमता मेहनतकश जनता में ही है। इसलिए चन्द्रभान की कविता में श्रम से जुड़े अनेक चित्र आते हैं। उनके श्रमिक वर्ग में खेतिहर किसान, मिल मजदूर, लुहार, सीवर साफ करने वाले कालू से लेकर ताउम्र रेलवे में खलासी रहे सुर्ख हड़ताली आंखों वाले इस्माइल चाचा, खराद मशीन पर डटे कारीगर तक सभी लोग आते हैं। मेहनतकश स्त्रियां भी चन्द्रभान की कविताओं में महत्वपूर्ण स्थान घेरती हैं। हालांकि संग्रह में कुछ कविताएं प्रकृति को लेकर भी हैं। वैयक्तिक जीवन-स्थितियों को लेकर भी दो-एक कविताएं हैं। परंतु अधिकांशतः चन्द्रभान का मन परिवर्तन और बदलाव के लिए संघर्ष करती जनता का चित्रण करने में ही रमता है।

इंकलाबी बदलाव का सपना देखने वाले चंद्रभान के इंकलाब के शक्ति सूत्र कहां बिखरे हैं? 'आखिर कब' कविता में वे कहते हैं-

भुजबल ऐसा/रसातल तक खोद डालें ये लोग धरती
यदि पा जाएं मनचाहा आकाश
इंद्रधनुष उठाना तो होगा
तब बाएं हाथ का खेल
और प्रत्यंचा पर खींच कर संकल्प
भेदना अनंत को/होगा कितना आसान

लेकिन यह सब यदि इतना ही आसान होता तो दुनिया ऐसी न होती। इतनी भूख, गरीबी, बेरोजगारी, अन्याय और शोषण न होता। ये सब क्यों है? क्योंकि हुक्काम की हिदायत है कि-

बहुत हिनहिनाता है ये नमकहराम
इसके जबड़े में/लगाम खिंची रहे/जबान न पलट सके/

हुक्काम जानता है- जहां जबान पलटी वहीं तख्त उलट गया! साम्राज्य रेत के ढेर-सा बिखर जाएगा। याद कीजिए, भूल गलती का दरबार जहां सब खामोश बैठे हैं। मानव सभ्यता के विकास में श्रम से जुड़ने के पश्चात एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था आई थी, जब हमने अपने स्वातंत्र्य को व्यवस्थित करके विकसित किया था। लेकिन अब श्रम से जुड़ी जनता के सामने ऐसी सामाजिक स्थितियां हैं, जिनमें उनके विकसित स्वातंत्र्य को नियंत्रित करने का प्रयास किया जा रहा है।

ऐसा क्यों है? क्योंकि हुक्काम नौकरी मांगने आए व्यक्ति की गज भर लंबी जबान पहले कतरता है। उसकी नकारा खुद्दारी को अपने पास गिरवी रखता है। उसका हुलिया बदल देने के बाद कहता है-

अपनी तमाम हरकतें-
लोहे पर चढ़े जंग-सी उतार फेंक
अक्ल की बात करना सीख
अपना और अपने पिल्लों का
जीवन बीमा चाहता है तो
कुत्ते की तरह वफादार बन

कविता बताती है कि नौकरी चाहिए तो वफादार कुत्ता बनने के लिए तैयार हो जाइए। अन्यथा चौराहे पर बिजूके की जगह खाली है। मेरे फौलादी हाथों की जगह ऑटोमैटिक मशीनें लेने को तैयार हैं। ऐसे में आठ घंटे की नौकरी कवि को मानुषी खून की बूंदें चाटती आदमखोर लकड़बग्घे की जीभ लगे तो किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यदि कवि आक्रोश में भरकर पक्षपाती हो जाए तो उसे दोष नहीं देना चाहिए।

पक्षपात कविता में कवि कहता है-
मैं उन लोगों की बात नहीं कर रहा
जिनके हाथ खुले और दिल तंग हैं
मैं उन लोगों की तरफ से बोल रहा हूं
जिनके हाथ गिरफ्त में हैं मगर दिलोदिमाग आजाद-

सवाल यह है कि दिलोदिमाग इतने आजाद हैं तो वे हुक्काम की सारी शर्तें मानने को तैयार क्यों हैं? महानगर की सौतेली बस्तियों में क्यों रह रहे हैं? चंद्रभान की कविताएं इन तीखे सवालों का जवाब अपने ढंग से देती हैं। कवि निम्नवर्ग और निम्न मध्यवर्ग की बेबसी के प्रामाणिक चित्र खींचता है।

वैयक्तिकता की गुंजाइश चंद्रभान के यहां कम है। यातना कवि की इतनी अनुभव सिद्ध है कि वह अधिकांश जीवन स्थिति में अकेला नहीं रहना चाहता। यातना की निरंतरता ने कवि की संवेदना को इस प्रकार निर्मित किया है कि वो दूसरों की यातना को अनायास महसूस करता है। कवि दूसरों के दुःख में जितनी सहजता से शामिल हो जाता है, उतनी ही सहजता से अपने सुख में दूसरों को सम्मिलित कर लेता है, स्मृति के अंतरंग पलों में भी कवि उन लोगों को नहीं भूल पाता जो अभावग्रस्त हैं। बदलाव के लिए आतुर हैं। 'याद जैसे हो कुशल कारीगर' कविता में कवि कहता है-

धीरे से आती है तेरी याद
तेरी याद और मेरी थकान के बीच
बन जाता है एक पुल/बहने लगती है नदी,
सिमट आता है मनपसंद मौसम

मनपसंद मौसम का सेलिब्रेशन कवि अकेले नहीं करता। दरअसल, जरूरत कवि के मनपसंद मौसम को समझने की है। कवि मौसम का मिजाज बदलने का पक्षधर

है। पीड़ा, दुख, यातना, अन्याय और शोषण के मौसम के खिलाफ कवि जनसंघर्ष का पक्षधर है। कवि इस तथ्य से वाकिफ है कि संघर्ष को हर तरह से रोकने का प्रयास किया जा रहा है। फिर भी आशावादी कवि भविष्यवाचक शैली में मौसम बदलने की बात करता है-

जेठ की सुर्ख जमीन पर
आसाढ़ का दोंगरा/ऐसा पड़े
जैसे गर्म तवे पर/पानी में भिगोए हाथ की रोटी
छा जाए गंध सौंधी-सौंधी
खुल-खिल जाए नस-नस
हरले मेहनतकश की/मौसम ऐसे बदले-

यही है कवि का मनपसंद मौसम। किसी की याद आने पर कवि का अवसाद केवल याद भर से नहीं घुलता। कवि भीतर से सम्पन्न हो अथवा विपन्न। दोनों परिस्थितियों में वह अपने आपको समाज से जोड़ कर ही संतुष्ट होता है-

दुनिया का मुलम्मा फाड़ने को आतुर-
लोग बसने लगते हैं फिर-फिर मेरे भीतर।
घुलने लगता है अवसाद
बंधती है आस
जल्द आएगा प्यार मेरे पास।

चूंकि कवि का अवसाद वैयक्तिक नहीं है इसलिए आस भी वैयक्तिक नहीं हो सकती। दुनिया का मुलम्मा फाड़ने को आतुर लोगों को देखकर कवि का अवसाद घुलने लगता है। उसे यह महसूस होने लगता है कि जो मुलम्मा दुनिया पर चढ़ चुका है, उसका उतरना सरल नहीं है। मुलम्मा घिसने या छूटने की प्रतीक्षा करने का धैर्य छूट जाता है। इसलिए कवि उसे फाड़ने की तैयारी में जुटा है। उसका धैर्य जैसे अंतिम छोर पर पहुंच जाता है और वह बेचैन होकर पूछता है :

कब, आखिर कब
टूटेगा इनके सब्र का बांध
आखिर कब?

चंद्रभान की सहानुभूति जिस वर्ग के साथ है, उस वर्ग का स्पष्ट उल्लेख वह अपनी कविताओं में करते हैं। उल्लिखित वर्ग को यथास्थिति में बनाए रखने वाले तंत्र पर चंद्रभान तीखा प्रहार करते हैं। कवि सरकारी तंत्र और राजनीति दोनों को पोल-पट्टी खोलता है। वह जनता को आश्वासन देकर मूर्ख बनाने की राजनीति पर व्यंग्य करते हुए लिखता है :

शांत!/ शांत!
अभी मिलेगी सबको खिचड़ी।
शांत!
शांति!
लो, पकने का वक्त आ गया
कान खोल लो
खुद-बुद, खुद-बुद खुद ही सुन लो,
ऊपर देखो
पांच हाथ की लाठी पर है
चढ़ी हुई संसद की हांड़ी

संसद की हांड़ी बीरबल की खिचड़ी हो गई है। जनता को हाथ फैला कर खड़ा होने का आदेश दे दिया गया है। बेबस जनता और कर भी क्या सकती है! कविता की भाषा नागार्जुन की है। खिचड़ी और संसद 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' की याद दिलाती है। कवि अपने काव्य पूर्वजों का ऋणी दिखाई देता है। जनता के हिस्से में 'कुर्सी' तथा 'भारत की अजीब दास्तां' ऐसी ही राजनैतिक कविताएं हैं। 'संगीन जुर्म' जैसी कविता में कवि अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य पर विचार करते हुए अमेरिकी दादागिरी की तरफ संकेत करता है। हिरोशिमा और नागासाकी, कविता में साम्प्रदायिकता और आतंकवादी माफिया जुनून का उल्लेख है।

संग्रह की भूमिका में कविताओं पर विचार करते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी ने दलित चेतना तथा नारी चेतना की ओर संकेत किया है। कवि ने संग्रह की संभवत: चार-पांच कविताओं में नारी के बारे में सीधे-सीधे लिखा है। कागजी तआल्लुक जैसी एकाध विफल प्रेम की कविता भी संग्रह में हैं। लेकिन तीन कविताओं में कामकाजी स्त्री मां के रूप में आई है। 'बचपन' कविता की मां मिल मजदूर है। 'मां' कविता की मां तसला ढोने वाली मजदूर है और 'करतब-तरकीब' कविता की मां रस्सी पर चढ़कर करतब दिखाने वाली नटनी है।

इन कामगार महिलाओं के बच्चे कम उम्र हैं। बेनवा को रस्सी पर चलती अपनी मां की छवि कसाले भरी लगती है। बेनवा तमाशा देखने वालों के फिकरे, तालियों और सीटियों का अर्थ समझने लगा है। बाप के ढोल पीटू हाथों की अशान्ति उसे महसूस होने लगी है। इसलिए इस काम को छोड़ कर वह सम्मान से जीने का प्रयत्न कर रहा है। मां-बाप के साथ कारखाने में काम करने की तैयारी कर रहा है। तमाशा दिखा कर भीख मांगना उसे गवारा नहीं। कवि को लगता है बेनवा के दिलोदिमाग में आकाश साफ हो रहा है। लेकिन सवाल यह है कि जैसे आदमखोर भेड़ियों की भूखी-अश्लील निगाहों को देखकर बेनवा की स्याह पुतलियों से लपटें निकलने लगती हैं, क्या वैसे भेड़िए कारखाने में न होंगे?

कवि इस खतरे से वाकिफ है। तभी तो 'बचपन' कविता में उसने लिखा है :

सायरन बजते ही रोजाना
कारखाने की लक्ष्मण-रेखा
पार करने वाली मां-

कविता में प्रयुक्त लक्ष्मण-रेखा का प्रतीक वस्तुस्थिति को खुद-ब-खुद स्पष्ट कर देता है। घर और कारखाने अथवा कार्य-स्थल के बीच में लक्ष्मण-रेखा है। जिसे लांघ कर स्त्री को जाना पड़ता है। जानकी के लिए लक्ष्मण रेखा लांघने के कारण धार्मिक-नैतिक अथवा आध्यात्मिक रहे होंगे। परंतु आज की स्त्री के लिए लक्ष्मण रेखा लांघना ठेठ भौतिक मजबूरी है। कामगार मां अपने बच्चों का पेट भरने के लिए बिना किसी संकोच के लक्ष्मण रेखा लांघ जाती है। हालांकि वह जानती है कि ऐसा करके वह खुद को रावण के हवाले कर देगी। भूख और गरीबी के कारण स्त्री ऐसा करने के लिए विवश है। तभी तो बेनवा की मां फिकरे और सीटियों की परवाह

नहीं कर पाती। मजदूरिन मां ठेकेदार की कोढ़ खाई निगाहों को चुपचाप सहती है। कौन जाने घर लौटने पर इन स्त्रियों को अग्नि परीक्षा भी देनी पड़ती हो।

परिवार का एक बालिश्त भर गढ्ढा भरने की खातिर जी-जान से जुटी इन स्त्रियों को कवि उनकी सम्पूर्ण जिजीविषा, कर्मण्यता, बेबसी और लाचारी के साथ रेखांकित करने में सफल हुआ है। ये स्त्रियां भीतर-भीतर ही आक्रोश से भरी हुई हैं। बेबस मां का लावे की तरह उबलता आक्रोश दूध के साथ मिलकर संतान की नसों में फैल जाता है। तभी नसें फौलादी बनती है और हथौड़े वाले जन्म लेते हैं। बच्चे की नाजुक बांह, जो फौलादी मांसपेशियों से भर जाएंगी, को छूकर मां क्या सोचती होगी कवि समझ जाता है :

नन्हें की आंखों में
उड़ेल देती थी सारा स्नेह
लेकिन मां की कड़ुवाहट भी
दूध में उतरती होगी शर्तिया।

इसी कड़ुवाहट का संबंध है दलित चेतना से, जो चंद्रभान की कविताओं में बिल्कुल अलग अंदाज में दिखती है। चंद्रभान के दलित में अपनी स्थिति को लेकर अपराध बोध नहीं है। वह अपने आप को कई 'ऊंचों' से ऊंचा समझता है। कामयाबी के लिए की गई तिकड़मों को खूब जानता है। वह न रिश्तों को बैसाखी बनाना चाहता है न गतकालिक गौरव को गर्व का आधार। बल्कि वह गर्व करने वालों के समक्ष बड़े ही आत्मसम्मान के साथ कह देता है :

मैं ऐसा ही था या हूं आज भी
जिसे कहो, अज्ञात कुलनाम, अछूत
गरीब, नाचीज, नासमझ या कुछ और-

लेकिन ऐसा नहीं है कि संग्रह में उल्लिखित दलित वर्ग अपनी स्थिति को बदलने के लिए आतुर नहीं है। यह ठीक है कि इस वर्ग को सामाजिक प्रतिष्ठा पाने के लिए दोहरा संघर्ष करना पड़ रहा है। एक तरफ ये लोग सामंती मानसिकता से लड़ रहे हैं, दूसरी तरफ अपने लिए अवसरों की तलाश कर रहे हैं।

'लुहार का सबक' कविता में लुहार अपने बेटे को अपनी स्थिति तथा स्थिति के लिए जिम्मेदार लोगों के बारे में बताता है। सारी कविता सांकेतिक रूप में चलती है। लुहार अपने बेटे को जंग लगे लोहे को सीधा करने के लिए कहता है। लुहार बरसों से इसकी नब्ज भींच कर बैठा है। उसे गाली देने से भी परहेज नहीं है। बेटे को निर्देश देता है :

बाईं बगल से फुल घुमाकर
सिर से ऊपर और उठाकर
मार हथौड़े को झटके से
इसके थोबड़े पर दे मार

खुद-ब-खुद समझ आ जाता है कि जंग लगा लोहा क्या है और ये किसका है। याद कीजिए- मार हथौड़ा कर कर चोट... समाज के विकृत हो चुके चेहरे को ऐसी मारों से सीधा किया जा सकता है। लेकिन इतनी कोशिशों के बाद भी कालू को सौ फीसदी आरक्षण सीवर में ही मिल पाता है। दुनिया का नरक ढोते-धकेलते कुरबान होता कालू कवि को आहत करता है। छोटी से छोटी सुविधा से वंचित कालू की जिंदगी कवि को सीवरी जिंदगी लगती है। जहां सूरज की नाजुक किरणें, ताजी हवा, खुशबू, किलकारियों या सुनहरे सपनों के लिए कोई स्थान नहीं है। एक दिखने वाली दुनिया के भीतर कवि दो अलग-अलग दुनियाओं को साफ तौर पर देख लेता है।

दोहरी दुनिया के दोहरे मानदंडों और दोहरी नैतिकताओं से उपजे अवसाद और बेगानेपन को कवि ने हृदय पर बोझ की तरह रखा है। जितना यह बोझ बढ़ता है, कवि उतना खुद को दलित-शोषित समाज के निकट महसूस करता है। कवि जितना इस समाज के नजदीक जाता है, उतना ही उसके इरादे करवट लेने लगते हैं-

सीने पर जब शिला रखी, महसूस हो
होंठ खिंच रहे हों कमान से
जबड़ा चरमराने को हो चीख से
मुट्ठियां हो जाएं मछलियां
जैसे रेत पर...
तभी ये ख्याल उठता है
एक को होना ही होगा खत्म-

एक को खत्म करने की यह चाह बेहद जरूरी, वाजिब और समयानुकूल है। कवि रेत के साम्राज्य को समाप्त करने का प्रबल पक्षधर है। कमरतोड़ कसाला एक ही वर्ग के लिए क्यों हो? कवि चाहता है कि अब मेहनतकश जनता अपने श्रम का संगीत सुने। वह मौसम का आह्वान करते हुए कहता है :

सुन सके मेहनतकश
अपने श्रम का संगीत
जैसे नदी की धार पर
बरसे झमाझम पानी
रेत के साम्राज्य पर

कवि जानता है- हरी-भरी फसल उगाने वाले किसानों, कल-कारखानों में काम करके देश को खुशहाल बनाने वाले कामगारों, गगनचुंबी इमारतें बनाने वाले दिहाड़ी मजदूरों और समाज की गलाजत को धो-पोंछ कर चमकाने वाले सफाई कर्मचारियों के जीवन में न चमक है, न खुशहाली। न सिर पर छत है, न बच्चों के लिए शिक्षा। यही सामंतवाद और पूंजीवाद का मिला-जुला साम्राज्य है, जो रेत बन कर निरंतर मेहनतकश वर्ग के जीवन को रेगिस्तान बनाता चला जा रहा है। पृथ्वी को खोखला कर रहा है। लेकिन कवि आशावान है। उसे अब भी लगता है कि नई सृष्टि रचने के लिए वनमानुष फिर से मानव बनेगा।

बहुत सारी चीजों के अंत के इस दौर में चंद्रभान की कविताएं आशा जगाती हैं और एक नए संघर्ष की प्रस्तावना करती हैं।

जब इरादे करवट लेते हैं (कविताएं) : चंद्रभान
प्रकाशक : पांडुलिपि प्रकाशन, 77/1, ईस्ट आजाद नगर, दिल्ली
मूल्य : 100 रुपये